काव्य कुसुमाञ्जलि

महेन्द्र कुमार

भारती साहित्य मन्दिर—दिल्ली

काव्य कुसुमाञ्जलि

सम्पादक

महेन्द्रकुमार बी० ए० (आनर्ज़)

प्रकाशक

भारती साहित्य मन्दिर

फव्वारा, दिल्ली

प्रथमावृत्ति] [१९५१

प्रकाशक
भारती साहित्य मंदिर

मूल्य २॥)

मुद्रक
रतन प्रेस, देहली।

विषय-तालिका

आमुख

प्रस्तुत संग्रह में हिन्दी साहित्य के महान् कवियों कि श्रेष्ठतम् रचनाओं का समावेश किया गया है। कविताओं के चयन में पाठकों की रुचि और उनके भाव विकास पर प्रधान रूप से ध्यान दिया गया है। शिष्ट, सुरुचिपूर्ण, एवं राष्ट्रीय भावनाओं को जागृत करने वाली कविताओं को इस संग्रह में विशेष स्थान दिया गया है।

अनेक महान् कलाकारों की रचनाएं इस संग्रह में न आ सकीं हैं। इसका कारण यही है कि यदि उन सबकी रचनाओं का समावेश किया जाता तो पुस्तक का आकार बढ़ जाता और पाठकों की स्मरण-शक्ति पर आवश्यकता से अधिक भार पड़ता। हमारी श्रद्धा उन सब कलाकारों के प्रति किसी प्रकार भी कम नहीं है जिनका उल्लेख इस पुस्तक में नहीं हो सका है।

संग्रह की उपयोगिता बढ़ाने के लिये आरम्भ में हिन्दी कविता के विकास का संक्षिप्त परिचय और अन्त में कवि-परिचय तथा शब्दार्थ जोड़ दिये गये हैं। आशा है कि 'काव्य कुसुमाञ्जलि' की सुरभि पाठकों के हृदय को सुवासित करने में पूर्ण रूप से सफल होगी।

—महेन्द्रकुमार

कृतज्ञता–प्रकाश

जिन कलाकारों की रचनाओं का इस संग्रह में समावेश किया गया है, उनके एवं प्रकाशकों के हम अत्यन्त आभारी हैं।

—सम्पादक

हिन्दी कविता का विकास

शाश्वत सत्य की अनुभूतियों से अङ्कित होने के कारण विश्व की प्रधान भाषाओं का साहित्य सर्वत्र कविता के माधुर्य-पूर्ण प्रवाह से ही प्रारम्भ हुआ है। हिन्दी-साहित्य का प्रारम्भ भी कविता के इसी सौन्दर्य-शाली रूप से होता है। काल-विशेष की प्रमुख प्रवृत्तियों के अनुसार हम इसके विकास भाग को चार युगों में विभक्त कर सकते हैं। इन चतुर्युगों में से प्रथम में वीर-काव्य, द्वितीय में भक्ति-काव्य, तृतीय में रीति-काव्य तथा चतुर्थ में आधुनिकतम प्रवृत्तियों से परिपूर्ण काव्य की रचना हुई। यद्यपि इन युगों में इतर रचनाएं भी होती रहीं तथापि उल्लिखित भावनाओं के प्राधान्य के कारण इनका इस प्रकार विभाजन किया गया है।

वीरगाथा-युग का प्रादुर्भाव सं० १०५० से होता है। हिन्दी कविता के इस उदय-काल में द्वेष, विग्रह एवं अभिमान के कारण राजपूत-जाति का सौभाग्य-सूर्य अस्तोन्मुख था। सामूहिक प्रतिष्ठा की अपेक्षा वैयक्तिक प्रतिष्ठा को अधिक महत्ता प्रदान करने के फलस्वरूप उनके स्वाभाविक स्नेह-सम्बन्धों का भी सर्वथा लोप हो गया था। उस समय समन्वय का मार्ग प्रदर्शित करने वाली किसी शक्ति की अत्यधिक आवश्यकता थी। राजाश्रय में अपनी कविता-कामिनी को अलंकृत करने वाले चारण बन्धुओं ने उस शक्ति-सूत्र को उन्मुक्त रूप से ग्रहण किया और अपनी

ओजमयीवाणी के निर्घोष द्वारा राजपूत-जाति में नव-शौर्य का जागरण किया। यद्यपि अपने लक्ष्य की सिद्धि में वे पूर्णत: सफल न हो सके तथापि राष्ट्र की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने का समयोचित प्रयत्न करने के कारण वे धन्य हैं, अनश्वर प्रसिद्धि के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी हैं।

वीरगाथा-युग का सर्वप्रथम उल्लेखनीय ग्रन्थ 'बीसलदेव रासो' एक वीरगीतात्मक काव्य है। इसके रचयिता कविवर नरपति नाल्ह ने राजा बीसलदेव की चारित्रिक महत्ता का पूर्ण प्रतिपादन करने की चेष्टा की है परन्तु शौर्य एवं पराक्रम की अपेक्षा नायक की वासनात्मक प्रवृत्तियों को अधिक प्रश्रय देने के फलस्वरूप कवि का यह ग्रन्थ किसी भी दशा में सम्पूर्ण प्रशंसा का अधिकारी नहीं। साहित्यिक दृष्टि से भी पुनरुक्ति तथा शैली-भग्नता आदि दोषों के कारण इस ग्रन्थ का कोई विशेष महत्व नहीं है।

अपने युग का विशालतम् महाकाव्य होने के कारण कविवर चन्द्रबरदाई का 'पृथ्वीराज रासो' युग के प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित है। कवि के वंशानुगतों द्वारा जीविकोपार्जन के साधन-रूप में व्यवहृत होने के कारण इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर प्रक्षिप्त सामग्री का समावेश हो गया है। इसी सामग्री के आधार पर अनेक विद्वानों ने इसके प्रमाणिक होने के विषय में सन्देह प्रकट किये परन्तु आधुनिकतम् गवेषणाओं के द्वारा इन सन्देहों का विलोप होता जा रहा है। वैसे ग्रन्थ की भाषा सुन्दर, सरस तथा पूर्णत: वीररसानुकूल है। रचना-शैली की स्वाभाविकता एवं चमत्कारिता के कारण इसमें एक अपूर्व सौन्दर्य का जागरण हो गया है। पृथ्वीराज की वीरता का एक वर्णन देखिये :

गही तेग चहुँवाँन हिंदवाँन रानं, गजं जूथ परि कोप केहरि समानं।
करे रुन्ड-मुन्ड करी कुन्भ फारे, वरँ सूर सामंत हुँकि गर्ज भारे॥

कविवर जगनिक के 'अल्हाखण्ड' में वीरगीतात्मक-रूप में बनाफर

शाखा के आल्हा तथा उदल नामक क्षत्रिय-सामन्तों के शौर्य का उन्मेष-कारी वर्णन किया गया है। इसका वर्तमान रूप प्राचीन गीतों के आधार पर निर्मित है परन्तु समय-प्रभाव से भाषा तथा वस्तु में अन्तर आ जाने के कारण यह अपने मूल रूप से सर्वथा भिन्न हो गया है। ओज तथा स्फूर्ति को उत्थान देने वाली भावनाओं को इसमें विशेष स्थान प्राप्त हुआ है :

> बारह बरिस लै कूकर जीएं, और तेरह लै जिएं सियार।
> बरिस अठारह छत्री जीएँ, आगे जोवन के धिक्कार ॥

इस युग का अवसान सं० १४०० के लगभग हुआ।

वीर गाथा-युग के शौर्य-पूर्ण वातावरण के पश्चात् भक्ति-युग की शान्ति की अवतारणा हुई। भक्ति के गायक सन्त कबीर ने सर्वप्रथम अपनी समन्वयवादी तथा विश्लेषणात्मक विचार-धारा का प्रतिपादन किया। आत्म-विश्वास एवं स्वतन्त्र-प्रवृत्ति से परिपूर्ण इस कलाकार के हृदय में एक अभूतपूर्व बन्धुत्व की भावना का वास था। जाति एव वर्ग-भेदों से इन्हें उत्कट घृणा थी। विश्व के कण-कण में ये परमात्मा की लय का दर्शन करते थे। आत्मनिरीक्षणात्मक तथा शान्ति-परक भावनाओं का इनके काव्य में विशेष स्थान है। भौतिक वस्तुओं के प्रति इन्होंने सर्वत्र तिरस्कार एवं निषेध की भावनाओं का प्रदर्शन किया है। इनके अनुसार माया के प्रभाव के कारण मानव के हृदय में जिस अहंभाव का पोषण होता है, उसी का त्याग करने पर प्रभु के दर्शन संभव हैं :

> तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ में रही न हूँ।
> वारी फेरो बलि गई, जित देखौं तित तूँ ॥

सन्त कबीर भक्ति-काल की निर्गुण-धारा की ज्ञानमार्गी शाखा

के प्रतिनिधि कवि थे। इस शाखा के अन्य कवियों में धर्मदास, दादू-दयाल, मलूकदास एवं सुन्दरदास आदि कवियों का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है।

कविवर जायसी निर्गुण-धारा की प्रेममार्गी-शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। इनके हृदय में प्रेम-भावना का विशेष प्रतिष्ठान है। ये समस्त सृष्टि को ईश्वरीय ज्योति के आलोक से प्रकाशित देखते हैं। भारतीय गार्हस्थ-जीवन को इन्होंने अपने प्रबंध-काव्य 'पद्मावत' में अत्यन्त सुन्दरता से चित्रित किया है। ईश्वरीय-प्रेम की अनुभूति होने पर इन का हृदय सर्वत्रआनन्द के एक अदम्य ज्वार से आपूरित हो उठा है। परन्तु काल प्रभाव के कारण जब इन्हें उसके असह्य वियोग का अनुभव करना पड़ा है तब ये अत्यन्त करुण-स्वर में चीत्कार कर उठे हैं :

यह तन जारौं छार कै, करौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कँत धरै जहँ पाव ॥

प्रेम की इस अनन्यता के कारण जायसी अनन्त स्तुति के पात्र हैं। इनकी शाखा के अन्य कवियों में कुतबन, मंझन एवँ उसमान का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है।

ब्रजभाषा के अमर कवि सूरदास का हृदय लीला-पुरुषोत्तम की बाल-छवि से अङ्कित है। इनका 'सूरसागर' वात्सल्य एवं श्रृंगार की प्रवाहमान् सरिताओं का सँगम-स्थल है। शैशव-काल के प्रेम, स्पर्द्धा एवं रोष आदि कितने ही भावों का इन में अत्यन्त सुन्दर विवेचन-किया गया है। कृष्ण के मथुरा-गमन पर विरह-विदग्धा गोपियों की करुण अभिव्यक्तियों में रस अपने स्वाभाविक रूप में छलछला उठा है। गोपी-उद्धव-सम्वाद में उन महान् भावनाओं का सँकलन है जो यह प्रमाणित कर देती है कि कवि के हृदय में सच्ची भावुकता एवं स्नेह-

शीलता का वास है। विनय के पदों में कवि ने सख्य भाव को अत्यन्त माधुर्य-पूर्ण रूप में ग्रहण किया है। 'सूरसागर' का प्रत्येक पद स्वतन्त्र, आत्माभिव्यंजक तथा कोमल-कांत-पदावली से युक्त है।

महाकवि सूरदास भक्ति-काल की सगुण-धारा की कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि थे। इस शाखा के अन्य कवियों में नंददास, मीराबाई, रसखान एवं रहीम के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। नंददास अष्टछाप के कवियों में से एक थे। इन्होंने अपने 'भ्रमरगीत' में गोपियों की जिस विदग्धता का दर्शन कराया है, वह हिंदी कविता में चिरस्मरणीय रहेगी। मीरा की कविता में आत्म-साधन एवं गम्भीर-चिंतन द्वारा पोषित जिस अनन्य भावना का दर्शन होता है, वह वर्तमान-युग में महादेवी के अतिरिक्त अन्य किसी में सुलभ नहीं। रसखान और रहीम ने मुसलमान होते हुए भी जिस तन्मयता से कृष्ण-भक्ति में योग दिया, वह वास्तव में प्रशंसनीय है, स्तुति के योग्य है।

गोस्वामी तुलसीदास सगुण-धारा की राम-भक्ति-शाखा के प्रतिनिधि कवि हैं। इन्होंने अपने हृदय की श्रद्धा को 'रामचरित मानस' में पूर्णतः प्रतिबिम्बित कर दिया है। मर्यादा पुरुषोत्तम के चरित्र का विश्लेषक यह महाकाव्य निश्चय ही युग-युग तक विश्वभावनाओं को प्रतिफलित कर मानवात्मा को परितृप्ति प्रदान करता रहेगा। इसका अध्ययन चिरकाल तक मानव-हृदय में श्रेष्ठ सात्विक भावों को उत्थान प्रदान करता रहेगा। स्वान्तःसुखाय रचना होने के कारण कवि का यह ग्रन्थ काव्य एवं कला सभी दृष्टियों से एक अनुपमेय रचना है। रचना-कौशल, प्रबन्ध पटुत्व तथा प्रवृत्ति की अनेकरूपता सभी को इसके कलेवर में उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है। ज्ञान और भक्ति का ऐसा सुन्दर समन्वय अत्यंत दुर्लभ है। कवि की द्वितीय महत्त्वपूर्ण कृति 'विनय-पत्रिका' में भक्त की दीनता एवं प्रभु की क्षमता का जो महान्

दिग्दर्शन कराया गया है, वह प्रशंसनीय है। दर्शनशास्त्र के विविध प्रचलित सिद्धांतों को इसमें सुगमतापूर्वक प्रतिपादित करने की चेष्टा की गई है। विनय का एक पद देखिये :

अब लौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम कृपा भव-निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहौं ।।
पायो नाम चारु-चिंतामनि, उर कर ते न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहि कसैहौं ।।
परबस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निज बस है न हँसैहौं।
मन मधुकर बन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं ।।

इस शाखा के अन्य कवियों में स्वामी अग्रदास नाभादास एवं प्राणचंद चौहान का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। अग्रदास की 'राम-ध्यान मंजरी', नाभादास की 'भक्तमाला' तथा प्राणचंद चौहान का 'रामायण महानाटक' राम-काव्य सम्बन्धी अच्छी रचनाएँ हैं।

हिंदी कविता के इस स्वर्णयुग की समाप्ति संवत् १७०० के लगभग हुई।

भक्तियुग की पवित्रता के पश्चात् हिंदी कविता में रीति-युग के कलुषित वातावरण का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल के कवियों ने कृष्ण और राधा की पावन लीलाओं को नागरिक नायक-नायिकाओं के अभि-सार के रूप में चित्रित किया। आत्मिक सौंदर्य का नाश कर भौतिक वातावरण को अंकित करने में ही ये अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगे।

रीति-युग के कवियों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय कवि आचार्य केशवदास हैं। इन्होंने 'कविप्रिया' तथा 'रसिकप्रिया' की रचना कर हिंदी में सर्व-प्रथम रीति ग्रंथों के निर्माण की परम्परा आरम्भ की। 'रामचंद्रिका' की रचना कर इन्होंने मानस की शृंखला को और आगे विकसित करने का प्रयत्न

किया परन्तु रागात्मकता के अभाव के कारण ये उसमें सफल न हो सके। अलंकार-गठन के दुराग्रह के कारण भी इनकी रचनाओं में सौंदर्य का संचार न हो सका। वैसे दरबारी कवि होने के कारण वैभव एवं तेज-प्रताप आदि के वर्णनों में इन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई।

महाकवि बिहारी श्रृंगार रस के अनन्य प्रेमी थे। इनकी सतसई में प्रेम की विविध दशाओं का अद्भुत संकलन है। उसके एक-एक दोहे पर इनके अगाध पांडित्य एवं चरित्र-निरीक्षण की छाप लगी हुई है। श्रृंगार की भाँति ही विनयभक्ति एवं नीति के दोहे उतने ही ग्राह्य हैं। यह सत्य है कि उनके वियोग-वर्णन ऊहात्मक हैं तथापि उनके संयोग-वर्णनों में स्वाभाविकता एवं सरसता की इतनी अधिक मात्रा है कि हृदय को चमत्कृत हो जाना पड़ता है। दोहे जैसे लघु कलेवर-युक्त छन्द में काव्य एवं कला सम्बंधी समस्त विशेषताओं का संचार कर देने केकारण ही इनकी सतसई के विषय में यह प्रसिद्ध है :

सतसइया के दोहरे, ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

कविवर देव ने काव्य के साथ-साथ 'भावविलास' एवं 'भवानी-'विलास' जैसे सुन्दर रीति-ग्रन्थों की भी रचना की। राधा-कृष्ण के जीवन को लेकर इन्होंने संयोग श्रृंगार के अनेक सुन्दर चित्र उपस्थित किये हैं। इनके 'रस-विलास' एवं 'प्रेमचन्द्रिका' में अच्छा साहित्यिक गौरव सन्निहित है। अवस्था परिवर्तन के कारण इनके काव्य में दो विविध प्रवृत्तियों के लक्षण प्राप्त होते हैं। जीवन के मध्यान्ह-काल में लिखित ग्रन्थों में श्रृंगार के उत्कट रूप को स्थान प्राप्त हुआ है और जीवन के अंतिमकाल में लिखित ग्रंथों में ज्ञान एवं वेदांत की भी अच्छी तत्त्वपूर्ण चर्चा हुई है।

रीति-कालीन कविता के भाव-क्षेत्र में मौलिक क्रांति के उद्घोषक महाकवि भूषण वास्तव में प्रशंसा के पात्र हैं। इनसे पूर्व कविता में जिस भाव-हीनता का परिचय मिलता है, उसकी गर्हित प्रणाली का अन्त कर इन्होंने कवियों का ध्यान वीर-रस के गौरव की ओर आकृष्ट किया। अपने आश्रयदाताओं को वासना के गर्त्त की ओर उन्मुख करने की अपेक्षा इन्होंने उनके हृदयों में वीर-भावों का स्फुरण किया। इनके 'शिवराज-भूषण', 'शिवा-बावनी' एवं 'छत्रसाल-दशक' नामक ग्रन्थ इसके सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनके काव्य में कायर से कायर प्राणों में भी शौर्य का उन्मेष कर देने वाली शक्ति सन्निहित है। लगभग रीति-युग की समाप्ति सं० १६०० के लगभग हुई। इस युग के अन्य कवियों में मतिराम, भिखारीदास, सेनापति तथा पद्माकर भट्ट का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

आधुनिक-युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के उदय-काल के साथ-साथ हिन्दी-कविता में एक युगान्तर उपस्थित हुआ। इस काल में काव्य की समस्त प्रचलित रूढ़ियों का परित्याग कर नव-उन्मेष-शालिनी विविध साहित्यिक प्रवृत्तियों का विधान किया गया।

भारतेन्दु-युग की कविताओं में राष्ट्रीय भावनाओं को विशेष प्रश्रय दिया गया। पूज्यवर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र तथा 'प्रेमघन' आदि कवियों ने इस दिशा में स्तुत्य प्रयत्न किये। इन कवियों ने राष्ट्रीय कविताओं के साथ-साथ भक्ति तथा हास्य-सम्बन्धी कविताओं की भी रचना की। रचनात्मक कार्यों की ओर इस युग में विशेष ध्यान दिया गया।

भारतेन्दु-युग के पश्चात् हिन्दी-कविता के क्षेत्र में द्विवेदी-युग का सुखद आगमन हुआ। इस युग से पूर्व काव्य-रचना के लिये ब्रज-भाषा का ही प्रयोग होता था परन्तु अब पं० श्रीधर पाठक एवं पं० महावीर

प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी-कविता की रचना के लिये खड़ी-बोली के प्रयोग की परम्परा को भी प्रारम्भ किया। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के द्वारा खड़ी बोली का विशेष प्रचार किया तथा इसमें कविता-रचना के लिये अनेक कवियों को प्रोत्साहन प्रदान किया।

द्विवेदी-युग के कवियों में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा बाबू मैथिलीशरण गुप्त का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। हरिऔध जी ने अपनी कविता की रचना ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों में ही की। ब्रजभाषा में इनका 'रसकलश' एक सर्वथा सफल ग्रन्थ है। खड़ी बोली में इन्होंने कृष्ण-काव्य को लेकर प्रियप्रवास की तथा राम-काव्य को लेकर 'वैदेही-बनवास' की रचना की। मुहावरों के प्रयोग तथा अतुकान्त पद-रचना की ओर इनकी विशेष रुचि थी। प्रियप्रवास में कृष्ण तथा राधा के ईश्वरीय-रूप का परित्याग कर उनमें मानवीय गुणों की सफल प्रतिष्ठा की गई है। उनकी इस भावना का निर्माण स्पष्टत: युग की विचार-धारा के फलस्वरूप हुआ है।

गुप्त जी ने अपनी कविताओं में राष्ट्रीय भावनाओं को प्रमुखता दी तथा भारतीय-काव्य में उपेक्षित पात्रों की ओर विशेष सहानुभूति का प्रदर्शन किया। इनकी 'भारत-भारती' में भारतवर्ष के अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर उद्भावनाएँ प्राप्त होती हैं। 'साकेत' की उर्मिला तथा 'यशोधरा' की राहुल-जननी के जो हृदयग्राही वर्णन इन्होंने प्रस्तुत किये हैं उनके लिये हिन्दी-संसार इनका चिर-कृतज्ञ रहेगा। भाषा एवं भाव दोनों ही दृष्टि से इन्होंने अपने काव्य को सरल बनाने की चेष्टा की। इनका काव्य जनता के भावों का सच्चा प्रतिबिम्ब है। भाषा के माधुर्य का एक उदाहरण देखिये :

चारु चन्द्र की चंचल किरणें, खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है, अवनि और अंबर-तल में।

पुलक प्रकट करती है धरती, हरित तृणों की नोकों से,
मानो झूम रहे हैं तरु भी, मन्द पवन के झोकों से ।।

इस युग के अन्य कवियों में बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही', ठाकुर गोपालशरणसिंह, एवं पं० माखनलाल चतुर्वेदी आदि का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है ।

द्विवेदी-युग के पश्चात् प्रसाद-युग की अवतारणा होती है। इस युग में छायावादी एवं रहस्यवादी कविताओं का विशेष प्राबल्य रहा। छायावाद में सौन्दर्य-भावना, आत्माभिव्यंजना, दु:खवाद तथा पुरातन के प्रति प्रत्यावर्तन की भावनाएँ मुख्य रूप से कार्य कर रही हैं। 'कामायनी' के अमर कवि बाबू जयशङ्कर प्रसाद छायावाद के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं। इनके काव्य में सौन्दर्य-भावना तथा पुरातन के प्रति प्रत्यावर्तन की आकांक्षा प्रमुख रूप से प्राप्त होती है। छायावादी कवियित्री सुश्री महादेवी वर्मा के काव्य में आत्माभिव्यंजना का प्राधान्य है। 'नोहार' 'नीरजा' और 'सांध्यगीत' इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। पन्त जी के काव्य में सौन्दर्य भावना के साथ साथ पुरातन के प्रति प्रत्यावर्त्तन की आकांक्षा की भी प्रमुखता है। इनके काव्य में सौन्दर्य निश्चय ही पूर्णत: प्रतिफलित हो उठा है। इनके प्रकृति-चित्रों में कल्पना के साथ-साथ चित्रकार की चित्र-कला एवं वैज्ञानिक की तीव्र दृष्टि का भी संयोग है। पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के काव्य में दु:खवाद की प्रधानता है। इन्होंने भाग्य-पीड़ित मूक जनता की आहों में भारती के भव्य गान का श्रवण किया। इनकी 'भिक्षुक' 'तोड़ती पत्थर' आदि कविताएं इसकी उदाहरण हैं।

रहस्यवाद में परम-सत्य से तादात्म्य स्थापित करने की भावना प्रमुख रहती है। संसार की क्षणिकता से व्यथित होकर साधक शान्ति

की खोज में अग्रसर होता है एवं मार्ग के समस्त व्यवधानों का अतिक्रमण कर परमात्मा से अभिन्नत्व की स्थिति स्थापित करता है। उस समय भाव-लोक में विचरण करने के कारण उसे नाना प्रकार के अनुभव होते हैं। इन्हीं अनुभवों का प्रकटीकरण रहस्यवाद में होता है। आधुनिक युग के रहस्यवादी कवियों में बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' सुश्री महादेवी वर्मा तथा डा० रामकुमार वर्मा के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं।

प्रसाद-युग के पश्चात् हिन्दी-कविता के नितान्त आधुनिक युग का सूत्रपात होता है। इस युग में प्रगतिवादी कविताओं का विशेष प्राधान्य है। इन कविताओं में पुरातन के प्रति विद्रोह तथा वासनात्मक भावनाओं के चित्रण के प्रति मोह है। ये कविताएं साम्यवाद से प्रभावित तथा सस्ती भावुकता से ओतप्रोत हैं। प्रगतिवादी कवियों में पं० सुमित्रानन्दन पन्त, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', बाबू रामधारीसिंह, 'दिनकर', बाबू भगवतीचरण वर्मा, अनूप शर्मा तथा नरेन्द्र विशेषत: उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक-युग में हिन्दी-कविता में दिन-प्रतिदिन नवीन प्रवृत्तियों का प्रचलन हो रहा है। प्रगतिवाद, अभिव्यंजनावाद, हालावाद, तथा निराशावाद आदि कितने ही वाद सतत रूप से जन्म ले रहे हैं। नवीन कवियों की सख्या भी संतोषजनक रीति से प्रगति कर रही है। उल्लिखित कवियों के अतिरिक्त वियोगी हरि, बालकृष्ण शर्मा नवीन, हरिवंशराय बच्चन, उदयशंकर भट्ट, सोहनलाल द्विवेदी, सियारामशरण गुप्त, अज्ञेय, हरिकृष्ण 'प्रेमी', जगन्नाथप्रसाद मिलिंद, सुमित्राकुमारी सिन्हा, सुधीन्द्र, 'नीरज' आदि कितने ही कवि आज हिन्दी-कविता के अंचल को अपने सौरभीले कुसुमों से आपूर्ण कर रहे हैं। शीघ्र ही वह समय आयेगा जब हिन्दी-कविता विश्व-काव्य के शीर्ष पर आसीन होगी।

: १ :

सन्त कबीर

साखी

गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाय ।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय ।।१।।
तेरा सांईं तुझ में ज्यों पुहुपन में बास ।
कस्तूरी का मिरग ज्यों फिर फिर ढूंढे प्यास ।।२।।
माली आवत देखि करि, कलियां करी पुकार ।
फूले फूले चुन लिए, काल्हि हमारी बार ।।३।।
मधुर बचन है औषधी, कटुक बचन है तीर ।
स्रवन द्वार ह्वै संचरै, सालै सकल सरीर ।।४।।
धीरे धीरे रे मना, धीरे सब कछु होय ।
माली सींचै सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय ।।५।।
सिंहन के लहंडे नहीं, हंसन की नहिं पांति ।
लालन की नहिं बोरियां, साधु न चलैं जमाति ।।६।।
लगी लगन छूटै नहीं, जीभ चौंच जरि जाय ।
मीठो कहा अंगार को, जाहि चकोर चबाय ।।७।।
साधू ऐसा चाहिए, जैसे सूप सुभाय ।
सार सार को गहि रहै, थोथा देइ उड़ाय ।।८।।
साधू भूखा भाव का, धन का भूखा नाहिं ।
धन का भूखा जो फिरै, सो तो साधू नाहिं ।।९।।
आवत गारी एक है, उलटत होय अनेक ।
कह कबीर नहिं उलटिये, वही एक की एक ।।१०।।
कबिरा गर्व न कीजिए, काल गहे कर केस ।
न जाने कित मारि है, क्या घर क्या परदेस ।।११।।

आए हैं सो जायंगे, राजा रंक फकीर ।
इक सिंघासन चढ़ि चले, इक बंधि जाति जंजीर ॥१२॥

पात झरंता यों कहै, सुनु तरवर बनराय ।
अब के बिछुरे ना मिलैं, दूर परैंगे जाय ॥१३॥

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर ।
पंछी को छाया नहीं, फल लागै अति दूर ॥१४॥

एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय ।
जो तू सेवै मूल को, फूलै फलै अघाय ॥१५॥

दुर्बल को न सताइए, जाकी लम्बी हाय ।
बिना जीव की स्वांस के, लोह भसम ह्वै जाय ॥१६॥

कबिरा संगत साध की, ज्यों गंधी का बास ।
जो कछु गंधी दे नहीं, तौ भी बास सुबास ॥१७॥

देह धरे का दण्ड है, सब काहू को होय ।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुखतै रोय ॥१८॥

सांचे स्राप न लागई, सांचे काल न खाय ।
सांचे को सांचा मिले, सांचे माहिं समाय ॥१९॥

वृच्छ कबहुँ नहिं फल भखैं, नदी न संचै नीर ।
परमारथ के करने, साधुन धरा सरीर ॥२०॥

माटी कहै कुम्हार से, तू क्या रूँदै मोहिं ।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँदूंगी तोहिं ॥२१॥

माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर ।
कर का मनका डारि के, मन का मनका फेर ॥२२॥

सब बन तो चन्दन नहीं, सूरा का दल नाहिं ।
सब समुद्र मोती नहीं, यों साधू जग माहिं ॥२३॥

सबते है लघुता भली, लघुता से सब होय ।
जस दुतिया का चन्द्रमा, सीस नांय सब कोय ॥२४॥

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देह लै जाय ॥२५॥
पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जात ।
देखत ही छिप जायगा, ज्यो तारा परभात ॥२६॥
कबिरा जंत्र न बाजई, टूटि गये सब तार ।
जंत्र बिचारा क्या करै, चला बजावन हार ॥२७॥
पीया चाहै प्रेम रस, राखा चाहै मान ।
एक म्यान में दो खड़्ग, देखा सुना न कान ॥२८॥
माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं ।
मनुवां तो दहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥२९॥
माया तजी तो क्या भया, मान तजा नहिं जाय ।
मान बड़े मुनिवर गये, मान सबन को खाय ॥३०॥

सबद

(१)

करमगति टारे नाहिं टरी ।
मुनि वसिष्ट से पंडित ज्ञानी सोध के लगन धरी ॥
सीता हरन मरन दसरथ को बन में विपति परी ।
कहं वह फंद कहां वह पारधि कहं वह मिरग चरी ॥
सीता को हरि लैगो रावन सुबरन लंक जरी ।
नीच हाथ हरिचन्द बिकाने बलि पाताल धरी ॥
कोटि गाय नित पुन्य करत नृप गिरिगिट जोन परी ।
पांडव जिनके आपु सारथी तिनपर विपति परी ॥
दुरजोधन को गरब घटायो जदुकुल नास करी ।
राहु केतु औ भानु चन्द्रमा विधि संजोग परी ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो होनी हो के रही ।

(२)

राम गति पार न पावै कोई ।
चिंतामणि–प्रभु निकटछांड़ि करभ्रमि–भ्रमि मति बुधि खोई ।।
तीरथ बरत जपै-तप करि-करि, बहुत भांति हरि साधै ।
सकति सुहाग कहौ क्यूं पावै, अछुता कंत विरोधै ।।
नारी पुरिख' बसै इक संगा, दिन–दिन जाय अबोलै ।।
तजि अभिमान मिलै नहि पिव कूं, ढूंढत बन-बन डोलै ।
कहै कबीर, हरि अकथ कथा है, बिरला कोई जानै ।
प्रेम-प्रीति बेधी अंतरगति, कहूं काहि, को मानै ।।

(३)

जल बिच मीन पियासी ।
मोहिं सुनि-सुनि आवत हांसी ।।
घर में वुसत धरी नहि सूझै, बाहर खोजन जासी ।
मृग की नाभि माहि कसतूरी, बनबन फिरत उदासी ।।
आतम-ग्यान बिना सब सूना, क्या मथुरा, क्या कासी ।
कहत कबीर, सुनौ भई साधौ, सहज मिले अबिनासी ।।

(४)

सन्तो भाई, आई ग्यान की आंधी ।
भ्रम की टाटी सबै उड़ानी, माया रहै न बांधी ।।
हित-चित की द्वै थूनि गिरानी, मोह बलींडा टूटा ।
त्रिस्नो-छानि परी घर ऊपरि, कुबधि का भांडा फूटा ।।
जोग-जुगति कर संतनि बांधी, निरचू चुवै न पाणी ।
कूड़-कपट काया का निकस्या, हरि की गति सब जाणी ।।

आंधी पीछैं जौ जल बूठा, प्रेम हरीजन भीना ।
कहै कबीर, भान कैं प्रगटें, उदित भया तम खीना ॥

(५)

मन लागो मेरो यार फकीरी में ।

जो सुख पावो नाम भजन में, सो सुख नाहिं अमीरी में ।
भला बुरा सब को सुनि लीजै, कर गुजरान गरीबी में ॥
प्रेम नगर में रहिन हमारी, भलि बनि आई सबूरी में ।
हाथ में कूंड़ी बगल में सोंटा, चारो दिसि जागीरी में ॥
आखिर यह तन खाक मिलेगा, कहा फिरत मगरूरी में ।
कहै कबीर सुनो भई साधो, साहिब मिलै सबूरी में ॥

: २ :

मलिक मुहम्मद जायसी

पार्वती-महेश-खंड

(पद्मावत से)

ततखन पहुँचे आइ महेसू। बाहन बैल, कुस्टि कर भेसू ।।
काथरि कया, हड़ावरि बाँधे। मुंड-माल औ हत्या कांधे ।।
सेसनाग जाके कँठ माला। तनु भभूति, हस्ती कर छाला ।।
पहुँची रुद्र-कवँल कै गटा। ससि माथे औ सुरसरि जटा ।।
चँवर, घंट और डँवरु हाथा। गौरा पारबती धनि साथा ।।
औ हनुवँत बीर सँग आवा। धरे भेस बाँदर जस छावा ।।
अवतहि कहेन्हि, न लावहु आगी। तेहि कै सपथ जरहु जेहि लागी ।।
की तप करै न पारेहु, की रे नसाएहु जोग ?
जीयत जीउ कस काढ़हु ? कहहु सो मोहिं बियोग ।।१।।

कहेसि मोहिं बातन्ह बिलमावा। हत्या केरि न डर तोहि आवा।
जरै देहु, दु:ख जरौं आपारा। निस्तर पाइ जाउँ एक बारा ।।
जस भरथरी लागि पिंगला। मो कहँ पद्मावति सिंघला ।।
मैं पुनि तजा राज औ भोगू। सुनि सो नावं लीन्ह तप जोगू ।।
एहि मढ़ सेएउँ आइ निरासा। गइ सो पूजि, मन पूजि न आसा ।।
मैं यह जिउ डाढ़े पर दाधा। आधा निकसि रहा, घट आधा ।।
जो अधजर सो बिलँब न लावा। करत बिलंब बहुत दुख पावा ।।
एतना बोल कहत मुख, उठी बिरह कै आगि।
जौं महेस न बुझावत, जाति सकल जग लागि ।।२।।

पारबती मन उपजा चाऊ। देखौं कुंवर, केर सत आऊ।
ओहि एहि बीच, कि पेमहि पूजा। तन मन एक, कि मारग दूजा ।।

भइ सुरूप जानहुँ अपछरा । बिहँसि कुँवर कर आँचर धरा ।।
सुनहु कुँवर मोसौं एक बाता । जस मोहिं रंग न औरहि राता ।।
औ बिधि रूप दीन्ह है तोकाँ । उठा सो सबद कोइ सिव-लोका ।।
तब हों तोपाहँ इंद्र पठाई । नइ पदमिनि, तैं अछरी पाई ।।
अब तजु जरन, मरन, तप, जोगू । मोसौं मानु जनम भरि भोगू ।।
हौं अछरी कबिलास कै जेहि सरि पूज न कोइ ।
मोहिं तजि संवरि जो ओहि मरसि, कौन लाभ तेहि होइ ।।३।।

भलेहिं रंग अछरी तोर राता । मोहिं दूसरे सौं भाव न बाता ।।
मोहिं ओहि सँवरि मुए तस लाहा । नैन जो देखसि पूछसि काहा ?
अबहिं ताहि जिउ देइ न पावा । तोहि असि अछरी ठाढ़ि मनावा ।।
जौं जिउ देइहौं ओहि कै आसा । न जनौं काह होइ कबिलासा ।।
हौं कबिलास काह लै करऊं ? सोइ कबिलास लागि जेहि मरऊं ।।
ओहि के बार जीउ नहिं बारौं । सिर उतारि नेवछावरि सारौं ।।
ताकरि चाह कहै जो आई । दोउ जगत तेहि देहुँ बड़ाई ।।
ओहि न मोरि किछु आसा, हौं ओहि आस करेऊँ ।
तेहि निरास पीतम कहँ, जिऊँ न देउँ का देउ ।।४।।

गौरइ हँसि महेस-सौं कहा । निहचै एहि बिरहानल दहा ।।
निहचै यह ओहि कारन तपा । परिमल पेम न आछै छपा ।।
निहचै पेम-पीर यह जागा । कसे कसौटी कंचन लागा ।।
बदन पियर जल डभकहिं नैना । परगट दुवौ पेम के बैना ।।
यह एहि जनम लागि ओहि सीझा । चहै न औरहि, ओही रीझा ।।
महादेव देवन्ह के पिता । तुम्हरी सरन राम रन जिता ।।
एहू कहँ तस माया करेहू । पुरवहु आस, कि हत्या लेहू ।।
हत्या दुइ के चढ़ाए काँधे बहु अपराध ।
तीसर यह लेउ माथे, जौ लेवै कै साध ।।५।।

सुनि कै महादेव कै भाखा । सिद्ध पुरुष राजै मन लाखा ॥
सिद्धहि अंग न बैठ माखी । सिद्ध पलक नहिं लावै आँखी ॥
सिद्धहि संग होइ नहिं छाया । सिद्धहि होइ भूख नहिं माया ॥
जेहि जग सिद्ध गोसाईं कीन्हा । परगट गुपुत रहै को चीन्हा ? ॥
बैल चढ़ा कुस्टी कर भेसू । गिरजापति सत आहि महेसू ॥
चीन्है सोइ रहै जो खोजा । जस विक्रम और राजा भोजा ॥
जो ओहि तंत सत्त सौं हेरा । गएउ हेराइ जो ओहि भा मेरा ॥

बिन गुरु पंथ न पाइय, भूलै सो जो मेट ।
जोगी सिद्ध होइ तब जब गोरख सौं भेंट ॥६॥

ततखन रतनसेन गहबरा । रोउब छाँड़ि पाँव लेइ परा ॥
मातै पितै जनम कित पाला । जो अस फाँद पेम गिउ घाला ? ॥
धरती सरग मिले हुत दोऊ । केइ निनार कै दीन्ह बिछोऊ ? ॥
पदिक पदारथ करहुँत खोवा । टूटहिं रतन, रतन तस रोवा ॥
गगन मेघ जल बरसै भला । पुहुमी पूरि सलिल बहि चला ॥
सायर टूट, सिखर गा पाटा । सूझ न बार पार कहुँ घाटा ॥
पौन पानि होइ होइ सब गिरई । पेम के फंदे कोइ जनि परई ॥

तस रोवै जस जिउ जरै, गिरै रकत औ माँसु ।
रोवँ रोवँ सब रोवहिं सूत सूत भरि आँसु ॥७॥

रोवत बूड़ि उठा संसारू । महादेव तब भयउ मयारू ॥
कहेन्हि "न रोव, बहुत तैं रोवा । अब ईसर भा, दारिद खोवा ॥
जो दुख सहै होइ दुख ओकाँ । दुख बिनु सुख न जाइ सिव लोका ॥
अब तैं सिद्ध भएसि सिधि पाई । दरपन-कया छूटि गइ काई ॥
कहौं बात अब हौं उपदेसी । लागु पंथ, भूले परदेसी ! ॥
जौं लगि चोर सेंधि नहिं देई । राजा केरि न मूसै पेई ॥
चढ़ै न जाइ बार ओहि खूंदी । परै त सेंधि सीस-बल मूंदी ॥

कहौं सो तोहि सिंघलगढ़, है खंड सात चढ़ाव ।
फिरा न कोई जियत जिउ, सरग-पंथ देइ पाव ।।८।।

गढ़ तस बाँक, जैसि तोरि काया । पुरुष देखु ओही कै छाया ॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे । जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हे ॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझियारा । औ तहँ फिरहिं पांच कोटवारा ॥
दसवं दुवार गुपुत एक ताका । अगम चढ़ाव बाट, सुठि बाँका ।।
भेदै जाइ सोइ वह घाटी । जो लहि भेद, चढ़ै होइ चाँटी ।।
गढ़ तर कुंड, सुरंग तेहि माहाँ । तहँ वह पंथ कहौं तोहि पाहाँ ॥
चोर बैठ जस सेंधि सँवारी । जुआ पैंत जस लाव जुआरी ।।

जस मरजिआ समुद धंस, हाथ आव तब सीप ।
ढूंढ़ि लेइ जो सरग-दुआरी चढ़ै सो सिंघलदीप ।।९।।

दसवँ दुआर ताल कै लेखा । उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा ।।
जाइ सो तहाँ साँस मन बंधी । जस धंसि लीन्ह कालिंदी ॥
तू मन नाथु मारि कै सांसा । जो पै मरहि अबहिं करु नासा ।।
परगट लोकचार कहु बाता । गुपुत लाउ मन जासौं राता ।।
"हौं हौं" कहत सबै मति खोई । जौं तू नाहिं आहि सब कोई ।।
जियतहि जुरै मरै एक बारा । पुनि का मीचु, को मारै पारा ? ।।
आपुहि गुरू सो आपुहि चेला । आपुहि सब औ आपु अकेला ।।

आपुहि मीच जियन पुनि, आपुहि तन मन सोइ ।
आपुहि आपु करै जो चाहै, कहाँ सो दूसर कोइ ? ॥१०।।

: ३ :

संत सूरदास

सूर-सुधा

(१)

चरण कमल बन्दौं हरिराइ !
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे को सब कछु दरसाई ॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै, रङ्क चलै सिर छत्र धराई ॥
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बन्दौं तेहि पाई ॥

(२)

प्रभु सब पतितन कौ टीकौ !
और पतित सब द्यौस चारिके, हौं जन्मान्तर ही कौ।
बधिक-अजामिल, गनिका तारी और पूतना हू कौ ॥
मोहिं छाँड़ि तुम और उधारै मिटै सूल क्यों जी कौ ॥
कोउ न समरथ अब करबे कौ खैंच कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज 'सूर' पतितन मैं मोहूँ तैं को नीकौ ॥

(३)

छाँड़ि मन हरि विमुखन कौ संग।
जाके संग कुबुधि उपजत है परत भजन में भंग ॥
कहा भयो पय पान कराये, विष नहिं तजत भुजंग।
काम क्रोध मद लोभ मोह में निसिदिन रहत उमंग ॥
कागहिं कहा कपूर खवाये, स्वान न्हवाये गंग।
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषन अंग ॥
पाहन पतित बान नहिं भेदत रीतो करत निषंग।
सूरदास खल कारी कामरि चढ़ै न दूजो रंग ॥

(४)

मोरे प्रभु औगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो, अब मोंहि पार करो॥
एक नदिया एक नार कहावत, मैलो नीर भरो।
जब दोऊ मिलि एक बरन भये सुरसरि नाम परो॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो।
पारस गुन औगुन नहिं चितवै, कंचन करत खरो॥
यह माया-भ्रम-जाल, निवारो सूरदास सगरो।
अबकी बेर मोहिं पार उतारो, नहिं प्रन जात टरो॥

(५)

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, पुनि जहाज पै आवै॥
कमलनैन को छाँड़ि महातम, और देव को ध्यावै।
परम गङ्ग को छांड़ि पियासो, दुर्मति कूप खनावै॥
जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो, क्यों करील फल भावै।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै॥

(६)

रे मन मूरख जनम गंवायो।
करि अभिमान विषय सों राच्यो, स्याम-सरन नहिं आयो॥
यह संसार फूल सेंवर को, सुन्दर देखि भुलायो।
चाखन लग्यो रुई उधरानी, हाथ कछू नहिं आयो॥
कहा भयो अब के मन सोचे, पहले नाहिं कमायो।
कहै सूर भगवंत भजन बिनु सिर धुनि धुनि पछितायो॥

(७)

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगेहि मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥

परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै॥
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु, निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब विधि अगम विचारहि ताते, सूर सगुन लीला पद गावै॥

(८)

हम भक्तन के भक्त हमारे।
सुनु अर्जुन परितिग्या मेरी, यह व्रत टरत न टारे॥
भक्तै काज लाज हिय धरिकै पांइ पियादे धाऊं।
जहं जहं भीर परै भक्तन पै तहं वहं जाइ छुड़ाऊं॥
जो मम भक्त सो बैर करत है सो निज बैरी मेरो।
देखि बिचारि भक्त हित कारन, हांकत हौं रथ तेरो॥
जीते जीत भक्त अपने की हारे हारि विचारौ॥
सूरदास सुनि भक्त विरोधी, चक्र सुदर्शन धारौ॥

(९)

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
कितनी बार मोंहि दूध पियत भइ यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काढ़त, गुहत, नहावत, ओंछत, नागिन सी भ्वै लोटी॥
काचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन-रोटी।
सूर स्याम चिरजीवो दोऊ भैया हरि-हलधर की जोटी॥

(१०)

मैया मोंहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीनो तोहिं जसुमति कब जायो।
कहा कहौं यहि रिस के मारे हौं खेलन नहिं जात।
पुनि पुनि कहत कौन है माता, कौन तिहारो तात।

गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत श्याम शरीर।
चुटकी दै दै हंसत ग्वाल सब, सिखै देत बलवीर।
तू मोहीं को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस-समेत लखि, जसुमति मन अति रीझै।
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूरस्याम मो गोधन की सौं, हौं माता, तू पूत॥

(११)

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतंग करी दीपक सों आपै प्राण दह्यो।
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सों सम्पुट हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जो नाद सों सनमुख बान सह्यो।
हम जो प्रीति करी माधव सों चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु-बिन दुख दूनो नैनन नीर बह्यो॥

(१२)

कहां लौं कीजै बहुत बड़ाई।
अति अगाध मन अगम-अगोचर मन-सो तहां न जाई।
जा के रूप न रेख, वरन, बपु नाहिन सखा-सहाई।
ता निरगुन सो नेह निरन्तर क्यों निबहै री माई।
जल बिन तरंग भीति बिन लेखन बिन चेतहि चतुराई।
या ब्रज में कछु नहीं चाह है ऊधो आनि सुनाई।
मन चुभि रही माधुरी मूरति अंग अंग उरझाई।
सुन्दर स्याम कमल-दल-लोचन सूरदास सुखदाई॥

(१३)

मैया मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥
देखि तुही सीके पर भाजन ऊँचे धर लटकायो।
तुही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो॥

मुख दधि पोंछ कहत नंदनन्दन दोना पीठि दुरायो।
डारि सांट मुसकाइ तबहि गहि सुत को कंठ लगायो॥
बाल विनोद मोद मन मोह्यो भगति प्रताप दिखायो।
सूरदास प्रभु जसुमति के सुख सिव बिरंचि बौरायो॥

(१४)

सबै दिन एकै से नहिं जात।
सुमिरन ध्यान कियो करि हरि को जब लगि तन कुसलात॥
कबहूं कमला चपला पाकै टेढ़े टेढ़े जात।
कबहुँक मग मग धूरि टटोरत, भोजन को बिलखात।
या देही के गर्व बावरो तदपि फिरत इतरात।
वाद विवाद सबै दिन बीते, खेलत ही अरु खात॥
हौं बड़ हौं बड़ बहुत कहावत, सूधे कहत न बात।
योग न युक्ति ध्यान नहिं पूजा, वृद्ध भये अकुलात॥
बालापन खेलत ही खोयो, तरुनापन अलसात।
सूरदास औसर के बीते, रहिहौ पुनि पछितात॥ ६॥

(१५)

मधुबन तुम कत रहत हरे?
बिरह बियोग स्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?
तुम हौ लाज निलज नहिं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।
ससा, स्यार औ बन के पखेरू, धिक धिक सबन करे॥
कौन काज ठाढ़े रहे बन में काहे न उकठि परे?
सूरदास प्रभु बिरह-दवानल नख-सिख लौं पसरे॥

(१६)

अखियाँ हरि दर्सन की भूखी।
कैसे रहें रूप रस राँची ये बतियां सुनि रूखी॥

अवधि गिनत इक टक मग जोवत तब एती नहिं झूखी।
अब इन जोग संदेसन ऊधो अति अकुलानो दूखी॥
बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहिपय पिवत पतूखी।
सूर सिकत हठि नाव चलाओ ये सरिता हैं सूखी॥

(१७)

निर्गुन कौन देस को बासी।
मधुकर हँसि समुझाय सौंह दे, बूझति साँच न हाँसी॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी।
कैसो बरन, भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी॥
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे कहैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो 'सूर' सबै मति नासी॥

(१८)

ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस॥
भईं अति शिथिल सबै माधव बिनु यथा देह बिनु सीस।
स्वासा अटकि रहे आसा लगि जीवहि कोटि बरीस॥
तुम तो सखा स्यामसुन्दर के सकल जोग के ईस।
'सूरदास' रसिक की बतियाँ पुरवौ मन जगदीस॥

(१९)

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन तरुवर के, सबै पात झरि जैहैं।
घर के कहैं बेगि ही काढ़ो, भूत भये कोउ खैहैं।
जा प्रीतम सों प्रीत घनेरी, सोऊ देखि डरैहैं॥
कहँ वह ताल कहाँ वह सोभा, देखत धूरि उड़ैहैं।
भाइ बंधु अरु कुटुम्ब कबीला, सुमिरि सुमिरि पछतैहैं॥

बिन गोपाल कोउ नहिं अपनो, जसु अपजसु रहि जैहैं।
सो सूरज दुर्लभ देवन को, सत संगति में पैहैं॥

(२०)

जा पर दीनानाथ ढरे।
सोइ कुलीन बड़ो सुन्दर सोइ, जिन पर कृपा करे।
राजा कौन बड़ो रावन तें, गर्वहिं गर्व गरे।
रंक रु कौन सुदामा हू तें, आपु समान करे॥
रूपव कौन अधिक सीता तें, जन्म वियोग मरे।
अधिक कुरूप कौन कुबिजा तें, हरि पति पाइ बरे॥
योगी कौन बड़ो शंकर तें, ताको काम छरे।
कौन विरक्त अधिक नारद सों, निसिदिन भ्रमत फिरे॥
अपने नहिं पठवत नन्दनन्दन, हमरेउ फेरि धरे।
मसि खूँटी, कागर जल भीजे, शर दव लागि जरे॥

(२१)

ऊधो, हमहिं कहा समझावहु ?
पसु, पंछी, सुरभी ब्रज की सब, देखि स्रवन सुनि आवहु॥
तृन न चरत गो, पिवत न सुत पय, ढूँढ़त बन बन डोलैं।
अलि कोकिल जे आदि विहंगम, भीत भयानक बोलैं॥
जमुन भई तन स्याम, स्याम बिनु, अन्ध छीन भे रोगी।
तरुवर पत्र वसन न सँभारत, विरह वृच्छ भये योगी॥
गोकुल के सब लोग दुखित हैं, नीर बिना ज्यों मीन।
'सूरदास' प्रभु प्रान न छूटत, अवधि आस में लीन॥

(२२)

ऊधो मन माने की बात।
दाख-छोहारा छाँड़ि अमृत-फल, बिष-कीरा विष खात॥

जो चकोर को दइ कपूर कोउ, तजि अँगार न अघात।
मधुप करत घर कोरि काठ में, बँधत कमल के पात॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो, दीपक सों लपटात।
'सूरदास' जाको मन जासों, सोई ताहि सुहात॥

: ४ :

गोस्वामी तुलसीदास

अशोक-वाटिका में हनुमान

कपि करि हृदय बिचार, दीन्ह मुद्रिका डारि तब।
जानि असोक अँगार, सीय हरषि उठि कर गहेउ॥

तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अङ्कित अति सुन्दर॥
चकित चितव मुँदरी पहिचानी। हरष विषाद हृदय अकुलानी॥

जीति को सकइ अजय रघुराई। माया तें असि रचि नहिं जाई॥
सीता मन विचार कर नाना। मधुर बचन बोलेउ हनुमाना॥

रामचन्द्र गुन बरनइ लागा। सुनतहि सीता कर दुख भागा॥
लागी सुनइ स्रवन मन लाई। आदिहुँ तें सब कथा सुनाई॥
स्रवनामृत जेहि कथा सुनाई। कहि सो प्रगट होत किन भाई॥

तब हनुमंत निकट चलि गयऊ। फिर बैठी मन बिसमय भयऊ॥
रामदूत मैं मातु जानकी। सत्य सपथ करुणानिधान की॥

यह मुद्रिका मातु मैं आनी। दीन्ह राम तुम्ह कहँ सहिदानी॥
नर बानरहि संग कहु कैसे। कही कथा भइ संगति जैसे॥

कपि के बचन सप्रेम सुनि, उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह, कृपासिंधु कर दास॥

हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी। सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी॥
बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भयउ तात मो कहुँ जल जाना॥

अब कहु कुसल जाउं बलिहारी। अनुजसहित सुखभवन खरारी॥
कोमल चित्त कृपालु रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निठुराई॥
सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुंक सुरति करत रघुनायक॥
कबहुं नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्यमामृदु गाता॥
बचन न आव नयन भरि बारी। अहह नाथ हौं निपट बिसारी॥
देखि परम बिरहाकुल सीता। बोला कपि मृदु बचन विनीता॥
मातु कुसल प्रभु अनुज समेता। तव दुख दुखी सु-कृपा-निकेता॥
जनि जननी मानहु जिय ऊना। तुम्ह तें प्रेम राम के दूना॥

रघुपति कर संदेस अब, सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ, भरे बिलोचन नीर॥

कहेउ राम वियोग तव सीता। मो कहँ सकल भये विपरीता॥
नव-तरु-किसलय मनहुं कृसानू। काल निसासम निसि ससि भानू॥
कुबलय बिपिन कुन्त बन सरिसा। बारिद तपत तेल जनु बरिसा॥
जो हितु रहे करत तेइ पीरा। उरग स्वास सम त्रिविध समीरा॥
कहेहु तें कछु दुख घटि होई। काहि कहउं यह जान न कोई॥
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥
सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनहि माहीं॥
प्रभु संदेसु सुनत वैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहि तेही॥
कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम सेवक सुख दाता॥
उर आनहु रघुपति प्रभुताई। सुनि मम वचन तजहु कदराई॥

निसिचर निकर पतङ्ग सम, रघुपति बान कृसानु।
जननि हृदय निज धीर धरु, जरे निसाचर जानु॥

जौं रघुबीर होति सुधि पाई । करते नाहिं बिलम्बु रघुराई ॥
रामबान-रबि उये जानकी । तमबरूथ कहँ जातुधान की ॥
अबहिं मातु मैं जाऊँ लेवाई । प्रभु आयसु नहिं राम दुहाई ॥
कछुक दिवस जननी धरु धीरा । कपिन सहित अइहहिं रघुबीरा ॥
निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं । तिहुँ पुर नारदादि जसु गैहहिं ॥
हैं सुत कपि सब तुम्हहिं समाना । जातुधान भट अति बलवाना ॥
मोरे हृदय परम संदेहा । सुनि कपि प्रकट कीन्हि निज देहा ॥
कनक - भूधराकार - सरीरा । समर भयंकर अति-बल वीरा ॥
सीता-मन भरोस तब भयऊ । पुनि लघु रूप पवन-सुत लयऊ ॥

सुनु माता साखामृग, नहिं बल-बुद्धि-बिसाल ।
प्रभु प्रताप तें गरुडहि, खाइ परम लघु ब्याल ॥

मन संतोष सुनत कपि बानी । भगति प्रताप तेज-बल सानी ॥
आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना । होहु तात बल-सील निधाना ॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू । करहिं बहुत रघुनायक छोहू ॥
करहुँ कृपा प्रभु अस सुनि काना । निर्भर प्रेममगन हनुमाना ॥
बार बार नायेसि पद सीसा । बोला बचन जोरि कर कीसा ॥
अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता । आसिष तव अमोघ बिख्याता ॥
सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा । लागी देखि सुन्दर फल रूखा ॥
सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी । परम सुभट रजनीचर भारी ॥
तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं । जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं ॥

देखि बुद्धि-बल-निपुन कपि, कहेउ जानकी जाहु ।
रघु-पति चरन हृदय धरि, तात मधुर फल खाहु ॥

चलेउ नाइ सिरु पैठेउ बागा। फल खायेसि तरु तोरइ लागा॥
रहे तहां बहु भट रखवारे। कछु मारेसि कछु जाइ पुकारे॥
नाथ एक आवा कपि भारी। तेहि असोक बाटिका उजारी॥
खायेसि फल अरु बिटप उपारे। रच्छक मर्दि मर्दि महि डारे॥
सुनि रावन पठये भट नाना। तिन्हहिं देखि गर्जेउ हनुमाना॥
सब रजनीचर कपि संहारे। गये पुकारत कछु अधमारे॥
पुनि पठयेउ तेहि अच्छय कुमारा। चला संग लै सुभट अपारा॥
आवत देखि बिटप गहि तर्जा। ताहि निपात महाधुनि गर्जा॥

कछु मारेसि कछु मर्देसि कछु मिलयेसि धरि धूरि।
कछु पुनि जाइ पुकारे प्रभु मर्कट बल भूरि॥

सुनि सुत-बध लंकेस रिसाना। पठयेसि मेघनाद बलवाना॥
मारेसि जनि सुत बांधेसु ताही। देखिअ कपिहि कहां कर आही॥
चला इंद्रजित अतुलित जोधा। बंधु-निधन सुनि उपजा क्रोधा॥
कपि देखा दारुन भट आवा। कटकटाइ गर्जा अरु धावा॥
अति बिसाल तरु एक उपारा। बिरथ कीन्ह लंकेस-कुमारा॥
रहे महाभट ताके संगा। गहि गहि कपि मर्दइ निज अंगा॥
तिन्हहि निपति ताहिसन बाजा। भिरे जुगल मानहुँ गजराजा॥
मुठिका मारि चढ़ा तरु जाई। ताहि एक छन मुरछा आई॥
उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया। जीति न जाय प्रभंजन जाया॥

ब्रह्म-अस्त्र तेहि साधा कपि मन कीन्ह विचार॥
जौं न ब्रह्मसर मानऊँ महिमा मिटई अपार॥

ब्रह्मबान कपि कहुँ तेहि मारा। परतिहुँ बार कटकु संघारा॥

तेहि देखा कपि मुरछित भयऊ । नागपास बांधेसि लै गयऊ ॥
जासु नाम जपि सुनहु भवानी । भवबन्धन काटहिं नर ग्यानी ॥
तासु दूत कि बंध तर आवा । प्रभु कारज लगि कपिहि बन्धावा ॥
कपि बन्धन सुनि निसिचर धाये । कौतुक लागि सभा सब आए ॥
दसमुख सभा दीखि कपि जाई । कहि न जाई कछु अति प्रभुताई ॥
कर जोरे सुर दिसिप विनीता । भृकुटि विलोकत सकल सभीता ॥
देखि प्रताप न कपि मन संका । जिमिअहिगन महुँ गरुड़ असंका ॥

कपिहि बिलोकि दसानन विहँसा कहि दुर्बाद ।
सुत-बध-सुरति कीन्ह पुनि उपजा हृदय विषाद ॥

कह लकेस कवन तैं कीसा । केहि के बल घालेहि बन खीसा ॥
कीधौं स्रवन सुने नहिं मोही । देखउँ अति असंक सठ तोही ॥
मारे निसिचर केहि अपराधा । कहु सठ तोहि न प्रान के बाधा ॥
सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया । पाइ जासु बल बिरचति माया ॥
जा के बल बिरंचि हरि ईसा । पालत सृजत हरत दससीसा ॥
जा बल सीस धरत सहसानन । अंडकोश समेत गिरिकानन ॥
धरइ जो विविध देह सुरत्राता । तुम्ह से सठन्ह सिखावनदाता ॥
हर को दण्ड कठिन जेहि भंजा । तेहि समेत नृप-दल-मद गंजा ॥
खरदूषन त्रिसिरा अरु बाली । बधे सकल अतुलित बलसाली ॥

जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि ।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि ॥

जानउँ मैं तुम्हारि प्रभुताई । सहसबाहु सन परी लराई ॥
समर बालिसन करि जस पावा । सुनि कपिबचन बिहंसि बिहरावा ॥

खायउँ फल प्रभु लागी भूखा । कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा ॥
सब के देह परमप्रिय स्वामी । मारहिं मोहि कुमारग-गामी ॥
जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे । तेहि पर बांधेउ तनय तुम्हारे ॥
मोहि न कछु बांधे कइ लाजा । कीन्ह चहउँ निज प्रभुकर काजा ॥
बिनति करउँ जोरि कर रावन । सुनहु मान तजि मोर सिखावन ॥
देखहु तुम निज कुलहिं बिचारी । भ्रम तजि भजहु भगत भय-हारी ॥
जा के डर अति काल डेराई । जो सुर असुर चराचर खाई ॥
तासों बैरु कबहुँ नहिं कीजै । मोरे कहे जानकी दीजै ॥

प्रनत-पाल रघुनायक, करुनासिंधु खरारि ।
गये सरन प्रभु राखिहहिं, तव अपराध बिसारि ॥

राम-चरन-पंकज उर धरहू । लंका अचलराजु तुम्ह करहू ॥
रिषि-पुलिस्ति-जसु विमल मयंका । तेहि ससि महुँ जनि होहु कलंका ॥
रामनाम बिनु गिरा न सोहा । देखु विचारि त्यागि मद मोहा ॥
बसनहीन नहिं सोह सुरारी । सब-भूषन-भूषत बर नारी ॥
राम विमुख संपति प्रभुताई । जाइ रही पाइ बिनु पाई ॥
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं । बरषि गये पुनि तबहि सुखाहीं ॥
सुनु दसकंठ कहउँ पन रोपी । बिमुख राम त्राता नहिं कोपी ॥
संकर सहस विष्णु अज तोही । सकहिं न राखि राम कर द्रोही ॥

मोहमूल बहु सूलप्रद त्यागहु तुम अभिमान ।
भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान ॥

जदपि कही कपि अतिहित बानी । भगति-बिबेक-बिरति-नय-सानी ॥
बोला बिहँसि महा अभिमानी । मिला हमहि कपि गुरु बड़ ग्यानी ॥

मृत्यु निकट आई खल तोही । लागेसि अधम सिखावन मोही ॥
उलटा होइहि कह हनुमाना । मति भ्रम तोर प्रकट मैं जाना ॥
सुनि कपिबचन बहुत खिसियाना । बेगि न हरहु मूढ़ कर प्राना ॥
सुनत निसाचर मारन धाये । सचिवन्ह सहित बिभीषन आये ॥
नाइ सीस कर विनय बहूता । नीति बिरोध न मारिय दूता ॥
आन दंड कछु करिअ गोसाईं । सबही कहा मंत्र भल भाई ॥
सुनत विहँसि बोला दसकंधर । अंग भंग करि पठइय बंदर ॥

कपि कै ममता पूंछ पर, सबहिं कहउं समझाइ ।
तेल बोरि पट बांधि पुनि, पावक देहु लगाइ ॥

पूंछहीन बानर तहँ जाइहि । तब सठ निज नाथहि लइ आइहि ॥
जिन्ह कै कीन्हेसि बहुत बड़ाई । देखउँ मैं तिन्ह कै प्रभुताई ॥
बचन सुनत कपि मन मुसकाना । भइ सहाय सारद मैं जाना ॥
जातुधान सुनि रावन बचना । लागे रचइ मूढ़ सोइ रचना ॥
रहा न नगर बसन घृत तेला । बाढ़ी पूँछ कीन्ह कपि खेला ॥
कौतुक कहँ आये पुरवासी । मारहिं चरन करहिं बहु हाँसी ॥
बाजहिं ढोल देहिं सब तारी । नगर फेरि पुनि पूँछ प्रजारी ॥
पावक जरत देखि हनुमंता । भयउ परम लघुरूप तुरंता ॥
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारी । भईं सभीत निसा-चर-नारी ॥

हरि प्रेरित तेहि अवसर चले मरुत उनचास ।
अट्टहास करि गर्जा कपि बढ़ि लाग अकास ॥

देह बिसाल परम हरुआई । मन्दिर तें मन्दिर चढ़ धाई ॥
जरइ नगर भा लोग बिहाला । झपट लपट बहु कोटि कराला ॥

तात मातु हा सुनिय पुकारा । एहि अवसर को हमहि उबारा ।।
हम जो कहा यह कपि नहिं होई । बानर रूप धरे सुर कोई ।।
साधु अवग्या कर फल ऐसा । जरइ नगर अनाथ कर जैसा ।।
जारा नगर निमिष एक माहीं । एक बिभीषन कर गृह नाहीं ।।
ताकर दूत अनल जेहि सिरिजा । जरा न सो तेहि कारन गिरिजा ।।
उलटि पलटि लंका सब जारी । कूद परा पुनि सिन्धु मंझारी ।।

पूंछ बुझाइ खोइ स्रम, धरि लघुरूप बहोरि ।
जनक सुता के आगे, ढाढ़ भयउ कर जोरि ॥

मातु मोहि दीजै कछु चीन्हा । जैसे रघुनायक मोहि दीन्हा ।।
चूड़ामनि उतारि तब दयऊ । हरष समेत पवन-सुत लयऊ ।।
कहेउ तात अस मोर प्रनामा । सब प्रकार प्रभु पूरनकामा ।।
दीन-दयालु विरुद संभारी । हरहु नाथ मम संकट भारी ।।
तात सक्र-सुत-कथा सुनायहु । बान प्रताप प्रभुहिं समुझायहु ।।
मास दिवस महुँ नाथ न आवा । तौ पुनि मोहि जियत नहिं पावा ।।
कहु कपि केहि विधि राखउँ प्राना । तुम्हहू तात कहत अब जाना ।।
तोहि देखि सीतल भइ छाती । पुनि मो कहुँ सोइ दिन सोइ राती ।।

जनक-सुतहिं समुझाइ करि बहु विधि धीरजु दीन्ह ।
चरन कमल सिरु नाइ कपि गवनु राम पहिं कीन्ह ॥

श्री राम स्तुति

जाके प्रिय न राम-वैदेही ।
सो छाँड़िये कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही ।।१।।
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो, कंत ब्रज-बनितनि, भये मुद मंगलकारी ।।२।।

नाते नेह राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अंजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहां लौं ॥३॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो।
जासों होय सनेह राम–पद एतो मतो हमारो ॥४॥

श्री सीता-स्तुति

कबहुँक अम्ब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुन-कथा चलाइ ॥१॥
दीन सब अँगहीन छीन मलीन अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी दास कहाइ ॥२॥
बूझि हैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालुके मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ॥३॥
जानकी जगजननि जन की किये बचपन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव-नाथ गुनगन गाइ ॥४॥

लक्ष्मण-स्तुति

लाल लाड़िले लखन हित हौ जन के।
सुमिरे संकटहारी, सकल सुमंगलकारी,
पालक कृपालु अपने पन के ॥१॥
धरनी धरनहार, भंजन-भुवन भार,
अवतार साहसी सहसफन के।
सत्यसंध, सत्यब्रत, परमधरमरत,
निरमल करम बचन अरु मन के ॥२॥
रूप के निधान, धनु-बान पानि, तून कटि,
महाबीर बिदित जितैया बड़े रनके।

सेवक-सुख-दायक, सबल सब लायक,
गायक जानकीनाथ गुन-गन के ॥३॥
भावते भरत के, सुमित्रा सीता के दुलारे,
चातक चतुर राम-स्यामघन के ।
बल्लभ उर्मिला के, सुलभ सनेह बहस,
धनी धन तुलसी-से निरधन के ॥४॥

हनुमत-स्तुति

जाके गति है हनुमान की।
ताकि पैज पूजि आई, यह रेखा कुलिस पषान की ॥१॥
अघटि-घटन, सुघट-बिघटन ऐसी बिरुदावलि नहिं आन की।
सुमिरत संकट-सोच-बिमोचन, मूरति मोद-निधान की ॥२॥
तापर सानुकूल गिरजा, हर, लषन, राम अरु जानकी।
तुलसी कपि की कृपा-विलोकनि, खानि सकल कल्यान की ॥३॥

शिव स्तुति

देव बड़े, दाता बड़े, संकर बड़े भोरे।
किये दूर दुःख सबनिके, जिन जिन कर जोरे ॥१॥
सेवा सुमरिन पूजिबो, पात आखत थोरे।
दियो जगत जहँ लगि सबै, सुख, गज, रथ, घोरे ॥२॥
गांव बसत वामदेव, मैं कबहूँ न गिहोरे।
अधि भौतिक बाधा भई, ते किंकर तारे ॥३॥
बेगि बोलि बलि बरजिये, करतूति कठोरे।
तुलसी दल रूँध्यो चहैं, सठ साखि सिहोरे ॥४॥

सूर्य स्तुति

दीन दयालु दिवाकर देवा । कर मुनि मनुज सुरासुर सेवा ।।१।।
हिम-करि - केहरि करमाली । दहन दोष-दुख-दुरित रुजाली ।।२।।
कोक कोकनद लोक प्रकासी । तेज-प्रताप-रूप-रस-रासी ।।३।।
सारथि पंगु, दिव्य-रथ-गामी । हरि संकर-विधि-मूरति स्वामी ।।४।।
वेद पुरान प्रगट जस जागै । तुलसी राम-भक्ति वर मांगै ।।५।।

श्री गणेश स्तुति

गाइये गनपति जग बन्दन । संकर-सुवन-भवानी-नन्दन ।।१।।
सिद्धि-सदन, गज बदन, विनायक । कृपा-सिंधु, सुन्दर सब लायक ।।२।।
मोदक-प्रिय मुद-मंगल दाता । विद्या-वारिधि, बुद्धि-विधाता ।।३।।
मांगत तुलसिदास कर जोरे । बसहिं राम सिय मानस मोरे ।।४।।

गंगा-स्तुति

ईस-सीस बससि, त्रिपथ लससि, नभ-पताल-धरनि ।
सुर-नर-नाग-मुनि-सिद्ध-सुजन मङ्गल करनि ।।१।।
देखत दुख–दोष–दुरित–दाह–दारिद–दरनि ।
सागर-सुवन-सांसति-समनि, जलनिधि जल-भरनि ।।२।।
महिमा की अवधि करसि बहु विधि-हरि-हरनि ।
तुलसी करु बानि बिमल, बिमल वारि बरनि ।।३।।

: ५ :

मीराबाई

(१)

मन रे परसि हरि के चरण ।
सुभग शीतल कँवल कोमल त्रिविधज्वाला हरण ।
जिण चरण प्रहलाद परसे इन्द्र पदवी धरण ।।
जिण चरण ध्रुव अटल कीणो, राखि अपनी सरण ।
जिण चरण ब्रह्मांड भेट्यो, नख सिख सिरी भरण ।।
जिण चरण प्रभु परसि लीणो, तरी गौतम घरण ।
जिण चरण काली नाग नाथ्यो, गोप लीला करण ।।
जिण चरण धार्‌यो गोवरधन, गरव मघवा हरण ।
दासि मीरा लाल गिरधर अगम तारण तरण ।।

(२)

भज मन चरण कँवल अबिनासी ।
जेतइ दीसे धरण गगन बिच तेतइ सब उठि जासी ।
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हे, कहा लिये करवत कासी ।।
इस देही का गरव न करना माटी में मिल जासी ।
यो संसार चहर की बाजी, सांझ पड्यो उठि जासी ।।
कहा भयो है भगवां पहर्‌याँ, घर तज भये सन्यासी ।
जोगी होय जुगति नहीं जाणी, उलटि जन्म फिर आसी ।।
अरज करौं अबला कर जोरे स्याम तुम्हारी दासी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, काटो जम की फांसी ।।

(३)

हरि बिन कूँण गती मेरी ।
तुम मेरे प्रतिपाल कहिये मैं रावरी चेरी ॥
आदि अन्त निज नांव तेरो हीया में फेरी ।
बेरि बेरि पुकार कहूँ प्रभू आरति है तेरी ॥
यौ संसार विकार सागर, बीच में मेरी ।
नाव फाटी प्रभु पालि बाँध्यो बूडत है घेरी ॥
बिरहणि पिव की बाट जोवै राखिल्यौ नेरी ।
दासि मीरा राम रटत है, मैं सरणि हूँ तेरी ॥

(४)

करमगति टारे नाहिं टरे ।
सतवादी हरिचंद से राजा, नीच घर नीर भरे ।
पांच पांडु अरु कुन्ती द्रोपदी, हाड़ हिमालय गरे ॥
जज्ञ किया बलि लेण इंद्रासन, सो पाताल धरे ।
"मीरा" के प्रभु गिरधर नागर विष से अमृत करे ॥

(५)

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई ।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई ॥
भाई छोड़्या बन्धु छोड़्या छोड़्या सगा सोई ।
साध सङ्ग बैठ-बैठ लोक लाज खोई ॥
भगत देख राजी भई जगत देख रोई ।
अंसुअन जल सींच-सींच प्रेम बेल बोई ॥
दधि मथ घृत काढ़ लियो डार दई छोई ।
राणा विष को प्यालो भेज्यो पीय मगन होई ॥
अब तो बात फैल पड़ी जाणे सब कोई ।
"मीरा" राम लगण लागी होणी होय सो होई ॥

(६)

हरि ! तुम हरो जन की भीर ।
द्रोपदी की लाज राखी, तुम बढ़ायो चीर ॥
भगत कारन रूप नरहरि, धरयो आप सरीर ।
हरिनकस्यप मार लीन्हा, धरयो नाहिन धीर ॥
बूड़ते गजराज राख्यो, कियो बाहर नीर ।
दासि मीरा लाल गिरधर, दुख जहाँ तँह पीर ॥

(७)

हरि मेरे जीवन प्राण अधार ।
और आसिरो नाहिन तुम बिन, तीनूँ लोक मँझार ॥
आप बिना मोहि कछु न सुहावै, निरख्यौ सब संसार ।
मीरा कहै मैं दासी रावरी, दीज्यौ मती बिसार ॥

(८)

कोई कछु कहे मन लागा ।
ऐसी प्रीति लगी मनमोहन, ज्यों सोने में सुहागा ।
जनम जनम का सोया मनुवाँ, सतगुर शब्द सुण जागा ॥
मात-पिता सुत कुटुम्ब कबीला, टूट गया ज्यूँ तागा ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, भाग हमारा जागा ॥

(९)

नहिं ऐसो जनम बारंबार ।
का जानूँ कुछ पुण्य प्रगटे, मानुसा अवतार ।
बढ़त छिन–छिन घटत पल-पल, जात न लागे बार ॥
बिरछ के ज्यों पात टूटे, बहुरि न लागे डार ।
भौ सागर अति जोर कहिये, अनत ऊँडी धार ॥
राम नाम का बांध बंधा, उतर परले पार ।
ज्ञान–चौसर मंडी चोहटे, सुरत पासा सार ॥
या दुनियां में रची बाजी, जीत भावे हार ।

साधु संत महंत ज्ञानी, चलत करत पुकार ॥
दासि मीरा लाल गिरधर, जीवणा दिन च्यार ॥

(१०)

बसो मोरे नैनन में नंदलाल ।
मोहनी मूरति सांवरी सूरति, नैणा बने बिसाल ।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल ।
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सबद रसाल ।
मीरां प्रभु संतन सुखदाई, भक्त बछल गोपाल ॥

(११)

तनक हरि चितवौजी मोरी ओर ।
हम चितवत तुम चितवत नाहीं, दिल के बड़े कठोर ॥
मेरे आसा चितवनि तुमरी, और न दूजी दोर ।
तुमसे हमकूँ कबरे मिलोगे, हमसी लाख करोर ॥
ऊभी ठाढ़ी अरज करत हूँ, अरज करत भयो भोर ।
मीराँ के प्रभु हरि अबिनासी, देस्यूं प्राण अकोर ॥

(१२)

घड़ी एक नहिं आवड़े, तुम दरसण बिन मोय ।
तुम हो मेरे प्राण जी, कासूँ जीवण होय ॥
धान न भावै नींद न आवें, बिरह सतावै मोहि ।
घायल सी घूमत फिरूँ रे, मेरो दरद न जाणै कोय ॥
दिवस तो खाय गमाइयो रे, रैण गमाई सोइ ।
प्राण गमायो झूरताँ रे, नैण गमाया रोइ ॥
जो मैं ऐसो जाणती रे, प्रीत कियाँ दुख होइ ।
नगर ढँढोरा फेरतो रे, प्रीत करो मत कोइ ॥
पंथ निहारूँ डगर बुहारूं, ऊभी मारग जोइ ।
मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होइ ॥

———

: ६ :

रसखान

सुजान रसखान

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरी, चरौं नित नन्द की धेनु मंझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरिकौं जो धरयौ कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तौ बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥ १॥

या लकुटो अरु कामरिया पर राज तिहूं पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवोनिधि को सुख, नन्द की गाइ चराई बिसारौं॥
इन आंखिन सों रसखान कबैं, ब्रज के बन बाग-तड़ाग निहारौं।
कोटिक हौं कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं॥ २॥

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहुँ जाहि निरन्तर गावैं।
जाहिं अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रटैं, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियां छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥ ३॥

आयो हुतो नियरे रसखानि कहा कहूँ तू न गई वह ठैयाँ।
या ब्रज में सगरी बनता सब वारति प्रानिनि लेत बलैया॥
कोऊ न काहु की कानि करै, कछु चेटक सो जु कह्यो जदुरैया।
गाइगो तान, जमाइगो नेह, रिझाइगौ प्रान, चराइगो गैया॥ ४॥

प्रान वही जो रहैं रिझवा पर, रूप वही जिन वाही रिझायो।
सीस वही जिनके परसे पद, अंग वही जिन वा परसायो॥
दूध वही जो दुहायो री वाही, दही सु वही जो वही ढरकायो।
और कहां लौं कहौं रसखानि री, भाव वही जो वही मन भायो॥ ५॥

कल कानन कुंडल मोर पखा, उर पैं बनमाल विराजत है।
मुरली कर में अधरा मुसकानि, तरंग महाछवि छाजति है॥
'रसखानि' लखै तन पीतपटा, सत दामिनि की दुति लाजति है।
वह बाँसुरि की धुन कान करें, कुलकानि हिये तजि भाजत है॥ ६।

उनहीं के सनेहन सानि रहैं, उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं।
उनहीं की सुनै न औ बैन, त्यों सैन सों चैन अनेकन ठानी रहैं॥
उनहीं संग डोलन में 'रसखानि', सबै सुख सिंधु अघानी रहैं।
उनहीं बिन ज्यों जलहीन ह्वै, मीन सी आँखि मेरी अँसुवानी रहैं॥ ७।

शंकर से सुर जाहि भजैं चतुरानन ध्यान में धर्म वढ़ावैं।
नेक हिये में जो आवत ही, 'रसखान' महाजन मूढ़ कहावैं॥
जापर सुन्दर-देव वधू नहिं वारत प्रान अबार लगावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥ ८।

सोहत है चँदवा सिर मौर के जैसिये सुन्दर पाग कसी है।
तैसियै गोरज भाल विराजति, जैसी हियै बनमाल लसी है॥
'रसखानि' विलोकत बौरी भई, दृग मूँद के ग्वालि पुकार हँसी है।
खोलि री घूंघट, खोल कहा, वह सूरति नेनन मांझ बसी है॥ ९।

बैन वही उनकौ गुन गाइ, औ कान वही उन बैन सों सानी।
हाथ वही उन गात सरै, अरु पाइ वही जु वही अनुजानी॥
जान वही उन प्रान के संग, औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यों रसखानि, वही रसखानि, जु है रसखानि, सो है रसखानि॥ १०।

प्रेम वाटिका

या छवि पै 'रसखानि' अब, वारौं कोटि मनोज।
जाकी उपमा कविनु नहिं, पाई रहे सु खोज॥ १॥
प्रेम-अयनि श्री राधिका, प्रेम बरन नँद-नन्द।
प्रेम बाटिका के दोऊ, माली मालिन द्वंद॥ २॥

जेहि बिना जानै कछुहि नहिं, जान्यौ जात बिसेस।
सोइ प्रेम जेहि जानिकैं, रहि न जात कछु सेस॥ ३॥

जातें उपजतु प्रेम सोइ, बीज कहावतु प्रेम।
जामें उपजतु प्रेम सोइ, क्षेत्र कहावतु प्रेम॥ ४॥

जदपि जसोदा-नंद अरु, ग्वाल-बाल सब धन्य।
पै या जग में प्रेम की, गोपी भईं अनन्य॥ ५॥

प्रेम-प्रेम सब कोउ कहै, कठिन प्रेम की फांस।
प्रान तरफि निकरै नहीं, केवल चलत उसांस॥ ६॥

मित्र, कलत्र, सुबंधु, सुत, इनमें सहज सनेह।
सुद्ध प्रेम इनमें नहीं, अकथ कथा सबिसेह॥ ७॥

जेहि पाये बैकुण्ठ अरु, हरिहूँ की नहिं चाहि।
सोइ अलौकिक सुद्ध सुभ, सरस सुप्रेम कहाहि॥ ८॥

डरै सदा, चाहै न कछु, सहै सबै जो होय।
रहै एक रस चाहि कै, प्रेम बखानौ सोय॥ ९॥

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम-स्वरूप।
एक होइ द्वै में लसै, ज्यौं सूरज अरु धूप॥ १०॥

: ७ :

कविवर रहीम

रहीम रसना

तैं 'रहीम' मन आपनो, कीन्हों चारु चकोर।
निसि वासर लाग्यौ रहे, कृष्णचन्द्र की ओर ॥१॥
बड़े दीन को दुःख सुने, लेत दया उर आनि।
हरि हाथी सों कब हुती, कहु रहीम पहिचानि ॥२॥
तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पान।
कहि 'रहीम' पर काज हित, सम्पति सँचिह सुजान ॥३॥
कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाँति एक गुण तीन।
जैसी संगति बैठिए, तैसोई फल दीन ॥४॥
रहिमन चुप ह्वै बैठिये, देख दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइ हैं, बनत न लगि है देर ॥५॥
जो 'रहीम' गति दीप की, सुत सपूत गति सोय।
बढ़े उजेरो तेहि रहे, गए अन्धेरो होय ॥६॥
धूर उड़ावत सीस पर, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि पत्नी तरी, सो ढूंढत गजराज ॥७॥
दिव्य दीनता के रसहिं, का जाने जग-अन्धु।
भली विचारी दीनता, दीनबन्धु से बन्धु ॥८॥
दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोय।
जो 'रहीम' दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होय ॥९॥
रहिमन पानी राखिए, बिनु पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरे, मोती, मानुष, चून ॥१०॥

मान सहित विष खाइ के, संभु भये जगदीस।
बिना मान अमृत पिए, राहु कटायो सीस ॥११॥

पावस देखि रहीम मन, कोइल साधे मौन।
अब दादुर वक्ता भए, हमको पूछत कौन ॥१२॥

जो पुरुषारथ ते कहूं, सम्पति मिलति रहीम।
पेट लागि वैराट घर, तपत रसोई भीम ॥१३॥

जो 'रहीम' विधि बड़ किए, को कहि दूषन काढ़ि।
चन्द्र दूबरो कूबरो, तऊ नखत ते बाढ़ि ॥१४॥

अमर बेल बिनु मूल की, प्रतिपालित है ताहि।
रहिमन ऐसे प्रभुहि तजि, खोजत फिरिए काहि ॥१५॥

माँगे घटत 'रहीम' पद, कितौ करौ बड़ काम।
तीन पैंड बसुधा करी, तऊ बावनै नाम ॥१६॥

सर सूखे पंछी उड़ै, औरे सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पच्छ के, कहु 'रहीम' कहँ जाहिं ॥१७॥

जो 'रहीम' उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग ॥१८॥

काज परै कछु और है, काज सरै कछु और।
'रहिमन' भंवरी के भए, नदी सिरावत मौर ॥१९॥

जो विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत वमन कर, स्वान स्वादते खात ॥२०॥

अनुचित उचित 'रहीम' लघु, करहिं बड़नि के जोर।
ज्यों ससि के संयोग ते पचवति आग चकोर ॥२१॥

धनि 'रहीम' जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय ॥२२॥

'रहिमन' नीचन संग बसि, लगत कलंक न काहि।
दूध कलारिन हाथ लखि, मद समुझहिं सब ताहि ॥२३॥

जो रहीम ओछो बढ़ै, तौ अति ही इतराय।
प्यादे सों फरजी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय ॥२४॥

खीरा को मुंह काट कै, मलियत लौन लगाय।
'रहिमन' करुवे मुखन को, चहियत यही सजाय ॥२५॥

'रहिमन' देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि।
जहां काम आवे सुई, कहा करै तरवारि ॥२६॥

दुरदिन परै रहीम कहि, बड़ेन किए घटि काज।
पांच रूप पांडव भए, रथ वाहक नलराज ॥२७॥

निज कर क्रिया रहीम कहि, सिधि भावी के हाथ।
पांसे अपने हाथ में, दांव न अपने हाथ ॥२८॥

'रहिमन' मनहिं लगाइ के, देख लेहु किन कोय।
नर को बस करिबो कहा, नारायन बस होय ॥२९॥

जे गरीब पर हित करें, ते रहीम बड़ लोग।
कहाँ सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥३०॥

———

: ८ :

केशवदास

रामाश्वमेध-वर्णन

विश्वामित्र वशिष्ट स्यों एक समय रघुनाथ।
आरंभ्यो केशव करन अश्वमेध की गाथ॥

राम—मैथिली समेत तौ अनेक दान मैं दियो।
राजसूय आदि दै अनेक यज्ञ मैं कियो।
सीय-त्याग पाप ते हिये सुहौं महा डरौं।
और एक अश्वमेध जानकी बिना करौं॥

कश्यप—धर्म-कर्म कछु कीजई, सफल तरुणि के साथ।
ता बिन जो कछु कीजई, निष्फल सोई नाथ॥

करिये युत भूषण रूपरयी। मिथिलेश-सुता इक स्वर्णमयी।
ऋषिराज सबै ऋषि बोलि लिये। सुचि सों सब यज्ञ विधान किये॥
हयशालन ते हय छोरि लियो। शशि वर्ण सो केशव शोभ रयो।
श्रुतिश्यामल एक विराजतु है। अलिस्यों सरसीरुह लाजतु है॥

पूजि रोचन स्वच्छ अच्छत पट्ट बाँधिय भाल।
भूषि भूषण शत्रुदूषन छोड़ियो तेहि काल।
संग लै चतुरङ्ग सैनहि शत्रुहन्ता साथ।
भांति भाँतिन मान दै पठये सुश्री रघुनाथ॥

जात है जित बाजि केशव जात हैं तित लोग।
बोलि विप्रन दान दीजत यत्र-तत्र सभोग।

बेणु बीण मृदङ्ग बाजत दुन्दुभी बहु भेव।
भाँति भाँतिन होत मंगल देव से नर देव ॥

राघव की चतुरङ्ग चमूचय को गनै केशव राज समाजनि।
सूर तुरंगन के उरझैं पग तुंग पताकनि की पट साजनि।
टूटि परैं तिनतें मुकता धरणी उपमा वरणी कबिराजनि।
बिन्दु किधौं मुख फेनन के किधौं राजसिरी श्रवमङ्गल लाजनि।
राघव की चतुरंग चमू चपि धूरि उठी जलहू थल छाई।
मानो प्रताप हुतासन धूम सो केशवदास अकाश नऽमाई।
मेटि कै पंच प्रभूत किधौं विधि रेणुमयी नव रीत चलाई।
दुःख निवेदन को भुव भार को भूमि किधौं सुरलोक सिधाई ॥

नाद पूरि धूरि पूरि तूरि बन चूरि गिरि,
सोखि-सोखि जल भूरि-भूरि थल गाथ की।
केशोदास आस पास ठौर-ठौर राखि जन,
तिनकी सम्पति सब आपने ही हाथ की।
उन्नत नवाय नत उन्नत बनाय भूप,
शत्रुन की जीविकाऽति मित्रन के साथ की।
मुद्रित समुद्र सात मुद्रा निज मुद्रित कै,
आई दिसि दिसि जीति सेना रघुनाथ की ॥

दिसि विदिसिन अवगाहि कै, सुख ही केशवदास।
वालमीकि के आश्रमहिं, गयो तुरंग प्रकास ॥

दूरिहिं ते मुनि बालक धाये, पूजित बाजि विलोकन आये।
भाल को पट्ट जहीं लव बाँच्यो, बाँधि तुरंगम जयरस राच्यो ॥

एक वीरा च कौशल्या तस्याः पुत्रो रघूद्वहः।
तेन रामेण मुक्तोऽसौ वाजी गृह्णात्विमंबली ॥

घोर चमू चहुँ ओर ते गाजी, कौनेहि रे यह बांधियो बाजी।
बोलि उठे लव मैं यहि बाँध्यो, यों कहिकै धनुशायक साँध्यो ॥
मारि भगाय दिये सिगरे यों, मन्मथ के शर ज्ञान घने ज्यों।

योद्धा भगे वीर शत्रुघ्न आये।
कोदंड लीन्हें महा रोष छाये ॥
ठाढ़ो तहाँ एक बालै विलोक्यो।
रोक्यो तहीं जोर नाराच मोक्यो ॥

शत्रुघ्न—बालक छांड़ि दे छाँड़ि तुरंगम।
तोसों कहा करौं संगर संगम।
ऊपर वीर हिये करुणा रस।
बीरहिं बिप्र हते न कहूँ जस ॥

लव—कछु बात बड़ी न कहौ मुख थोरे।
लव सों न जुरो लवणासुर भोरे ॥
द्विज दोषन ही बल ताहि सँहारयो।
मरही जु रहो सु कहा तुम मारयो ॥
रामबन्धु बाण तीनि छोड़ियो त्रिशूल से।
भाल में विशाल ताहि लागियो ते फूल से ॥

लव—घात कीन्ह राज तात गात तैं कि पूजियो।
कौन शत्रु तू हत्यो जु नाम शत्रुहा लियो ॥

रोष करि बाण बहु भांति लव छंडियो।
एक ध्वज, सूत युग, तीन रथ खंडियो॥

शस्त्र दशरत्थसुत अस्त्र कर जो धरै।
ताहि सियपुत्र तिल तूलसम खंडरै॥

रिपुहा तब बाण वहै कर लीन्हो।
लवणासुर को रघुनन्दन दीन्हो।

लव के उर में उरझयो वह पत्री।
मुरझाय गिरयो धरणी महं छत्री॥

मोहे लव भूमि परे जबहीं। जै दुन्दुभि बाजि उठे तबहीं।
भू ते रथ ऊपर आनि धरे। शत्रुघ्न सु यों करुणाहि भरे॥
घोड़ों तबही तिन छोरि लयो। शत्रुघ्न आनँद चित्त भयो।
लैके लव को ते चले जबहीं। सीता पहँ बाल गये तबहीं॥

बालक—सुनु मैथिली नृप एक को लव बांधियो बर बाजि।
चतुरङ्ग सेन भगाइ कै सब जीतियो वह आजि।
उर लागि गो शर एक को भुव मैं गिरो मुरझाय।
तब बाजि लै लव लै चल्यो नृप दुन्दुभीन बजाय॥

सीता गीता पुत्र की सुनि कै भई अचेत।
मनो चित्र की पुत्रिका मन क्रम बचन समेत॥
रिपुहाथ श्रीरघुनाथ को सुत क्यों परै करतार।
पति देवता सब काल तौ लव जी उठै यहि बार।

ऋषि हैं नहीं कुश है नहीं लव लेइ कौन छुड़ाय।
बन माँझ टेर सुनी जहीं कुश आइयो अकुलाय॥

कुश—रिपुहिं मार संहारि दल यम तें लेहुँ छुँड़ाय।
लवहि मिलैहौं देखिहौं माता तेरे पाय॥

गाहियो सिंधु सरोवर सों जेहि बालि बली बरसो बर पेरयो।
ढाहि दिये सिर रावन के गिरि से गुरु जात न जानत हेरयो॥
शाल समूल उखारि लिये लवणासुर पीछे ते आय सो टेरयो।
राघव को दल मत्त करीश्वर अंकुश दै कुश केशव फेरयो॥

कुश की टेर सुनी जहीं, फूलि फिरे शत्रुघ्न।
दीप विलोकि पतंग ज्यों, जदपि भयो बहु बिघ्न॥

रघुनन्दन को अवलोकत ही कुश।
उर माँझ हयो शर युद्ध निरंकुश।
ते गिरे रथ ऊपर लागत ही शर।
गिरि ऊपर ज्यों गजराज कलेवर॥

जूझि गिरे जबही अरिहा रन। भाजि गये तबही भट के गन।
काढ़ि लियो जबही लव को शर। कंठ लग्यो तबही उठि सोदर॥

मिले जु कुश लव कुशल सों, बाजि बाँधि तरु मूल।
रण महि ठाढ़े शोभिजैं, पशुपति गणपति तूल॥

—:o:—

: ९ :

बिहारी

बिहारी-विनोद

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परैं, स्यामु हरित-दुति होइ ॥ १ ॥
मोर-मुकुट की चंद्रकनि, यौं राजत नँद नँद।
मन ससि सेखर की अकस, किय सेखर-सत-चन्द ॥ २ ॥
तंत्री-नाद कवित्त-रस, सरस-राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे, जे बूड़े सब अंग ॥ ३ ॥
कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहिं बीचु।
नल-बल जल ऊँचे चढ़ै, अन्त नीच को नीचु ॥ ४ ॥
जपमाला, छापैं, तिलक सरै न एकौ कामु।
मन-कांचैं नाचैं बृथा, सांचै राचै रामु ॥ ५ ॥
या अनुरागी चित्त की, गति समझै नहिं कोय।
ज्यों-ज्यों डूबै स्याम रंग, त्यों-त्यों उज्जल होय ॥ ६ ॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीत बहार।
अब अलि रही गुलाब में, अपत कटीली डार ॥ ७ ॥
कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाये बैरात है, यह पाये बौराय ॥ ८ ॥
बड़े न हूजे गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सौं कनक, गहनो गढ़्यो न जाय ॥ ९ ॥

जगत जनायौ जिहि सकलु, सो हारि जान्यौ नाँहिं ।
ज्यों आंखनि सब देखिये, आंख न देखी जांहिं ॥ १० ॥

नर की अरु नल-नीर की, जति एकै करि जोइ ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊंचौ होई ॥ ११ ॥

रही आस अटक्यो रहतु, अलि गुलाब के फूल ।
ह्वै हैं फेरि बसन्त ऋतु, इस डारन तै फूल ॥ १२ ॥

कीनै हूं कोटिक जतन, अब कहि काढ़ै कौनु ।
भौ मन मोहन रूप मिलि, पानी में कौ लौनु ॥ १३ ॥

को कहि सकै बड़ेन सौं, लखे बड़े हू भूल ।
दीने दई गुलाब को, इन डारन वे फूल ॥ १४ ॥

अरे हँस आ नगर में, जै यो आप विचारि ।
कागनि सों जिन प्रीति करि, कोकिल दई बिडारि ॥ १५ ॥

मकराकृत गोपाल के, कुण्डल सोहत कान ।
धस्यौ समर हिय-गढ़ मनहुँ ड्यौढ़ी लसत निसान ॥ १६ ॥

अति अगाधु, अति औथरौ, नदी, कूप, सरु बाइ ।
सो ताकौ सागरु जहां, जाकी प्यास बुझाई ॥ १७ ॥

यह बिरियाँ नहिं और की, तू करिया वह सोधि ।
पाहन-नाव चढ़ाय जिन, कीन्हें पार पयोधि ॥ १८ ॥

करि फुलेल को आचमन, मीठो कहत सराहि ।
ए गंधी मति-मन्द तू, इतर दिखावत काहि ॥ १९ ॥

कैसे छोटे नरनि ते, सरत बड़ेनि के काम ।
मढ्यो दमामा कहुँ, ले चूहे के चाम ॥ २० ॥

कर लै सूंघि सराहि कै, सबै रहे गहि मौन ।
गन्धी गन्ध गुलाब को, गँवई गाहक कौन ॥ २१ ॥

दिन दस आदर पाइ कै, करिलै आप बखान।
जौलगि-काग सराध पछ, तौ लगि तो सनमान ॥ २२ ॥

वे न इहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब।
फूल्यो अन फुल्यो, भयो गँवई गांव गुलाब ॥ २३ ॥

बसै बुराई जासु तन ताही को सनमान।
भलो भलो कहि छोड़िये, खोटे ग्रह जप दान ॥ २४ ॥

दुसह दुराज प्रजानिकौ, क्यों न बढ़ै अति दंद।
अधिक अँधेरो जग करैं, मिलि मावस रवि-चन्द ॥ २५ ॥

कबकौ टेरत दीन ह्वै, होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगत गुरु, जग नायक जग-बाय ॥ २६ ॥

कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, बिपत-बिदारन-हार ॥ २७ ॥

नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनौ तारन-बिरदु, बारक बारनु तारि ॥ २८ ॥

कौन भांति रहिहै बिरदु, अब देखवी मुरारि।
बींधे मो सों आइ कै, गीधे गीधहिं तारि ॥ २९ ॥

प्रगट भये द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरौ हरौ कलेस सब, केसव केसव राइ ॥ ३० ॥

मोहिं तुम्हैं बाढ़ी बहस, को जीतै जदुराज।
अपनै अपनै बिरद की, दुहूँ निबाहन लाज ॥ ३१ ॥

समय-पलट पलटै-प्रकृति, को न तजै निज चाल।
भौ अकरुन करुना करौ, इहिं कुपूत कलिकाल ॥ ३२ ॥

थोरेई गुन रीझतें, बिसराई वह बानि।
तुम हूं कान्ह मनो भये, आज काल के दानि ॥ ३३ ॥

बंधु भए का दीन के, को तारयौ रघुराइ।
तूठे तूठे फिरत हौ, झूठे बिरद कहाइ ॥ ३४ ॥
तौ बलियैं भलियै बनी, नागर नँद किसोर।
जौ तुम नीकैं कै लख्यो, मो करनी की ओर ॥ ३५ ॥
सोवत जगत सुपन बस, रस रिस चैन कुचैन।
सुरति स्याम-घन की सुरति, बिसरैहू बिसरै न ॥ ३६ ॥
सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली उर-माल।
यहि बानक मो मन सदा, बसौ बिहारी-लाल ॥ ३७ ॥
ज्यौं ह्वै हौ त्यौं होउँ गो, हौं हरि अपनी चाल।
हठ न करौ अति कठिन है, मो तारिबौ गोपाल ॥ ३८ ॥
अपनैं अपनैं मत लगे, बादि मचावत सोर।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ, एकै नँद किसोर ॥ ३९ ॥
मन मोहन सौं मोह करि, तूँ घन स्याम निहारि।
कुंज बिहारी सौं बिहरि, गिरधारी उर धारि ॥ ४० ॥

: १० :

महाकवि भूषण

शिवा-शौर्य

(१)

इन्द्र जिमि जंभपर, बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघु कुल-राज है।
पौन बारिबाह पर, संभु रति-नाह पर,
ज्यौं सहस-बाहु पर राम द्विज-राज है॥
दावा द्रुम दण्ड पर, चीता मृग-झुण्ड पर,
'भूषन' बितुंड पर जैसे मृग-राज है।
तेज, तम-अंसपर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यौं मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज है॥

(२)

गरुड़ को दावा जैसे नाग के समूह पर,
दावा नाग-जूह पर सिंह सिरताज को।
दावा पुरहूत को पहारन के कुल पर,
दावा सबै पच्छिन के गोल पर बाज को॥
भूषन अखंड नवखंड-महि-मंडल में,
तम पर दावा रवि-किरन-समाज को।
पूरब पछांह देस दच्छिन तें उत्तर लौं,
जहां पातसाही तहां दावा सिवराज को॥

(३)

प्रेतिनी पिसाचरु निसाचर निसाचरि हूँ,
मिलि मिलि आपुस मैं गावत बधाई हैं।
भैरों भूत प्रेत भरि भूधर भयंकर से,
जुत्थ जुत्थ जोगिनि जमाति जुर आई है॥
किलकि किलकि कै कुतूहल करति काली,
डिमडिम डमरू दिगम्बर बजाई है।
सिवा पूँछैं सिवसों "समाज आज कहां चली,"
"काहू पै सिवा नरेस भृकुटी चढ़ाई है"॥

(४)

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है।
भूषन भनत नाद विहद नगारन के
नदी नद मद गैबरन के रलत हैं।
एक फैल खैल भैल खलक में गैल गैल
गजन की ठेल पेल सैल उलसत हैं।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत जिमि
थारा पर पारा पारावार यों हलत हैं॥

(५)

उतरि पलंग तें न दियो है धरा पै पग,
तेऊ सगबग निसिदिन चली जाती हैं।
अति अकुलातीं मुरझातीं न छिपातीं गात,
बात न सोहाती बोले अति अनखाती हैं।

भूषन भनत सिंह साहि के सपूत सिवा,
तेरी धाक सुने अरि-नारि बिलखाती हैं।
जोन्ह मैं न जातीं ते वें धूपै चली जातीं,
पुनि तीन बेर खातीं ते वै तीन बेर खाती हैं॥

(६)

अन्दर तें निकसीं न मन्दिर को देख्यो द्वार,
बिन रथ पथ ते उघारे पायं जाती हैं।
हवा हू न लागती ते हवा तें बिहाल भईं
लाखन की भीर मैं सम्हारती न छाती हैं।
भूषन भनत सिवराज तेरी धाक सुनि,
हार डारि चीर फारि मन झुँझलाती हैं।
ऐसी परीं नरम हरम बादसाहन की,
नासपाती खातीं ते बनासपाती खाती हैं॥

(७)

इन्द्र निज हेरत फिरत गज इन्द्र अरु,
इन्द्र को अनुज हेरै दुगध नदीस को।
भूषन भनत सुरसरिता को हंस हेरै,
बिधि हेरै हंस को चकोर रजनीस को।
साहितनै सरजा यों करनी करी है तैंनै,
होत है अचंभो देव कोटियो तैंतीस को।
पावत न हेरे तेरे जस मैं हिराने निज,
गिरि को गिरीस हेरैं गिरिजा गिरीस को॥

(८)

राखी हिन्दुवानी, हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति-पुरान राखे बेद-बिधि सुनी मैं।

राखी राजपूती, राज धानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो, राख्यो गुन गुनी मैं॥
'भूषन' सुकवि जीति हद मरहट्टन की,
देस देस कीरति बखानी तव सुनी मैं।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली, दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी मैं॥

(६)

बेद राखे बिदित, पुरान राखे सारजुत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर मैं।
मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे बादशाह,
बैरी पीस राखे, वर-दान राख्यो कर मैं।
राजन की हद्द राखी, तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर मैं॥

(१०)

डाढ़ी के रखैयन को डाढ़ी सी रहित छाती
बाढ़ी मरजाद:जस हद्द हिन्दुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन का कसक सब
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की।
'भूषण' भनत दिल्ली-पति-दिल धकथका
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिनु चोटी के चबाय मुंड
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की।

———

: ११ :

देव

पायन नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिनि में धुनि की मधुराई।
सांवरे अंग लसै पटपीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई॥
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हंसी मुखचन्द-जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर, श्री व्रज दूलह देव सहाई॥ १॥

सूनो कै परम पदु, ऊनो कै अनन्त मदु,
दूनो कै नदीस नदु इन्दिरा फुरै परी।
महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि व्रजबीथी बिथुरै परी॥
भादौं की अंधेरी अधराति, मदुरा के पथ,
आई मनोरथ, देव देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन, अपार, पारब्रह्म रासि,
जसुदा के कोरे एक बारक दुरै परी॥२॥

धाये फिरौ व्रज में, बधाये नित नंदजू के,
गोपिन सिधाये नाचो गोपिन की भीर में।
देव मतिमूढ़ै तुम्हें ढूँढ़ै, कहां पावै चढ़े,
पारथ के रथ, पैठे जमुना के नीर में॥
अंकुस ह्वै दौरि हरनाकुस कौ फारयो उर,
साथी न पुकारयो, हते हाथी हिय तीर में।
बिदुर की भाजी, बेर भीलनी के खाय,
विप्र चाउर चबाय, दुरे द्रौपदी के चीर में॥ ३॥

ऐसे जुहौं जानत कि जैहै तू विषय के संग,
एरे मन मेरे हाथ पांव तेरे तोरतौं ॥
आज लौं हौं कत नर-नाहन की नाहीं सुनि,
प्रेम सों निहारि हेरि बदन निहारतौं ॥
चलत न देतौं देव चञ्चल अचल करि,
चाबुक चितावननि मारि मुंह मोरतौं ॥
भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरे सों बांधि,
राधावर विरद के वारिधि में बोरतौं ॥ ४ ॥
तेरो कह्यौ करि-करि, जीव रह्यौ जरि-जरि,
हारी पाँय परि-परि, तऊँ तैं न की संभार।
ललन बिलोकि, 'देव' पलन लगाये, तब,
यौं कल न दानी तैं छलल उछलन हार ॥
ऐसे निरमोही सों सनेह बाँधि हौं बँधाई,
आपु बिधि बूडयौ मांझ बाधा-सिंधु निरधार।
एरे मन मेरे, तैं घनेरे दुख दीन्हें, पल
एकैबार दैवैं तोहि मूँदि मारौं एकैबार ॥५॥
औचक अगाध सिंधु स्याही कौ उमंगि आयौ,
तामें तीनों लोक बूढ़ि गये एक संग में।
कारे-कारे कागद लिखे ज्यों कारे आखर,
सु-न्यारे करि बाँचै कौन, नाचै चित्त भंग में ॥
आँखिन में तिमिर, अमावस की रैन अरु,
जंबूरस बूंदि जमुना-जल-तरंग में।
यों ही मन मेरो मेरे काम कौ न रह्यौ 'देव'
स्याम रङ्ग है करि समान्यौ स्याम रङ्ग में ॥६॥
तेरो घर घेरे आठो जाम रहें आठो सिद्धि
नवों निधि तेरे बिधि लिखिये ललाट हैं।

'देव' सुख-साज महाराजिन कौ राज तुहीं,
सुमति सु ये तेरी कीरति के भाट हैं ॥
तेरे ही अधीन अधिकार तीन लोक कौ सु
दीन भयौ क्यौं फिरै मलीन घाट-बाट हैं।
तो में जो उठति बोलि, ताहि क्यों न मिलै डोलि
खोलिये हिये में दिये कपट-कपाट हैं ॥७॥

जिन जान्यौ बेद, ते तौ बादि कै विदित होहु,
जिन जान्यौ लोक, तेऊ लीक पै लरि मरौ।
जिन जान्यौ तप, तीनौ ताप नितें तपि-तपि,
पंचागिनि साधि ते समाधिन धरि मरौ ॥
जिन जान्यौ जोग, तेऊ जोगी जुग-जुग जियौ,
जिन जानी जोति, तेऊ जोति लै जरि मरौ।
हौं तो, 'देव' नंद के कुँवर, तेरी चेरी भई
मेरो उपहास क्यों न कोटिन करि मरौ ॥८॥

'देव' नभ-मन्दिर में बैठा रयो पुहुमि-पीठ
सिगर सलिल अन्हवाये उमहत हौं।
सकल महीतल के मूल, फल, फूल, दल,
सहित सगन्धन चढ़ावन चहत हौं ॥
अगिनि अनन्त धूप, दीपक अखंड जोति,
जल, थल, अन्न दे प्रसन्नता लहत हौं।
ढारत समीर चौंर, कामना न मेरे और,
आठों जाम राम, तुम्हें पूजत रहत हौं ॥ ६ ॥

———————

: १२ :

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

यमुना-छवि

तरनि-तनूजा-तट तमाल-तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सौं जल-परसन-हित मनहुँ सुहाये ॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज-निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल-लोभा ॥
मनु आतप-बारन तीर कौं, समिटि छवै छाये रहत।
कै हरि सेवा-हित नै रहे, निरखि नैन-मन सुख लहत ॥ १ ॥

कहूँ तीर पर कमल कमल सोभित बहु भाँतिन।
कहूँ सैवालन-मध्य कुमुदिनी लगि रहि पाँतिन ॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत ब्रज-सोभा।
कै उमगे प्रिय-प्रिया प्रेम के अनगिन गोभा ॥
कै करिकै कर बहु पीय कौं, हेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन कौं उपचार लै, चलति मिलन मन मोहई ॥ २ ॥

कै पिय-पद-उपमान जानि यहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगन-मिस अस्तुति उच्चारत ॥
कै ब्रज-तिय-गन-बदन-कमल की झलकति झाईं।
कै ब्रज-हरि-पद-परस-हेत, कमला बहु आईं ॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ, ब्रज-मंडल बगरे फिरत।
कै जानि लच्छिमी भौन यहि, करि सतधा निज जल धरत ॥ ३ ॥

तिन पै जेहि छन चंद-जोति राका-निसि आवति।
जल मैं मिलि कै नभ-अवनी लौं तान तनावति ॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्वल जल-ओभा।
तन, मन, नैन जुड़ात देखि सुन्दर सो सोभा ॥
सो को कवि जो छवि कहि सकै, ता छन जमुना-नीर की।
मिलि अवनि और अम्बर रहति, छवि इकसी नभ-तीर की ॥ ४ ॥

परत-चंद-प्रतिबिंब कहूं जल-मधि चमकायौ।
लोल लहरि मैं नचत कबहुँ सोई मन भायौ ॥
मनु हरि-दरसन-हेत चंद जल बसत सुहायौ।
कै तरंग कर मुकुर लिये सोभित छवि छायौ ॥
कै रास-रमन में हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल-उर हरि-मूरति बसति, ता प्रतिबिंब लखात है ॥ ५ ॥

कबहुँ होत सत चंद, कबहुँ प्रगटत, दुरि भाजत।
पवन-गवन-बस बिंब रूप जल मैं बहु साजत ॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलैं।
कै तरंग की डोर हिंडोरनि करत किलोलैं ॥
कै बाल-गुडी नभ में उड़ी, सोहत इत-उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ, ब्रज-रमनी जल आवती ॥ ६ ॥

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि, जात जमुन-जल।
कै तारागन-ठगन, लुकत, प्रकटत ससि अविकल ॥
कै कालिंदी-नीर-तरंग जिती उपजावत।
तितनेई धरि रूप मिलन-हित तासौं धावत ॥
कै बहुत रजत-चकई चलत, कै फुहार जल उच्छरत।
कै निसि-पति मल्ल अनेक बिधि, उठि बैठत, कसरत करत ॥ ७ ॥

कूजत कहूं कलहंस, कहूँ मज्जत पारावत।
कहूँ कारण्डव उड़त, कहूँ जल-कुक्कुट धावत ॥

चक्रवाक कहूँ बसत; कहूँ बक ध्यान लगावत।
सुक-पिक जल कहुँ पियत, कहूँ भ्रमरावलि गावत।।
कहुँ तट पै नाचत मोर बहु, रोर बिबिध पंछी करत।
जल-पान, न्हान करि सुख-भरे, तट सोभा सब जिय धरत।। ८ ।।
कहुँ बालुका बिमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्वल झलकत रजत-सीढ़ि मनु सरस सुहाई।।
पिय के आगम-हेत पाँवड़े मनहु बिछाये।
रतन-रासि की चूर कूल मैं मनु बगराये।।
मनु मुक्त-माँग सोभित भरी, स्याम नीर-चिकुरन परसि।
सतगुन छायौ कै नीर मैं, ब्रज-निवास लखि हिय हरषि।। ९ ।।

पद

हम तो मोल लिये या घर के।
दास-दास श्री बल्लभ-कुल के चाकर राधावर के।।
माता श्री राधिका पिता हरि, बंधु दास गुनकर के।
'हरीचंद' तुम्हरे ही कहावत, नहिं बिधि के, नहिं हर के।। १ ।।
ब्रज के लता पात मोहि कीजै।
गोपी-पद पंकज-पावन की रज जामैं सिर भीजै।।
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख, यह बर मुंह मांग्यौ हरि दीजै।। २ ।।
हम चाकर राधारानी के।
ठाकुर श्री नंद नंदन के, वृषभानु-लली ठकुरानी के।।
निरभय रहत, बदत नहिं काहू, डर नहिं डरत भवानी के।
'हरीचंद' नित रहत दिवाने, सूरत अजब निवानी के।। ३ ।।
धनि ये मुनि बृन्दाबन-बासी।
दरसन हेतु बिहंगम ह्वै रहे, मूरति मधुर उपासी।

नव कोमन-दल पल्लव-द्रुम पै मिलि, बैठत हैं आई।
नैनन मूंद त्यागि कोलाहल, सुनहिं बेनु-धुनि गाई ॥
प्राननाथ के मुख की बानी, करहिं अमृत रस-पान।
हरीचन्द्र हमको सोउ दुरलभ, यह बिधि गति की आन ॥ ४ ॥

सखी ये अति उरझौहैं नैन।
उरझि परत सुरझ्यो नहिं जानत, सोचत समुझत हैं न ॥
कोऊ नहिं बरजै जो इनको, बनै मत्त जिमि गैन।
हरीचन्द इन बैरिन पाछैं, भये लैन के दैन ॥ ५ ॥

पुरानी परी लाल, पहिचान।
अब हमकों काहें को चीन्हौ, प्यारे भये सयान ॥
नई प्रीति, नये चाहन वारे, तुम हूँ नये सुजान।
हरीचन्द पै जाँय कहां हम, लालन करहु बखान ॥ ६ ॥

रहै क्यों एक म्यान असि दोय।
जिन नैनन में हरि रस छायौ तिहिं क्यों भावै कोय ॥
जा तन मन में रमि रहै मोहन, तहाँ ज्ञान क्यों आवै।
चाहौं अमृत बात प्रबोधो, ह्याँ को जो पतियावै ॥
अमृत खाइ अब देखि इनारुन, को मूरख जो भूलै।
हरीचन्द ब्रज को बदली बन काटो तौ फिर फूलै ॥ ७ ॥

———

: १३ :

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

संध्या वर्णन (प्रिय-प्रवास से)

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ॥ १ ॥

विपिन बीच विहंगम-वृन्द का,
कल-निनाद विवर्धित था हुआ।
ध्वनिमयी-विविधा-विहगावली,
उड़ रही नभ-मंडल मध्य थी ॥ २ ॥

अधिक और हुई अब लालिमा,
दश-दिशा अनुरंजित हो गई।
सकल-पादप-पुञ्ज हरीतिमा,
अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई ॥ ३ ॥

झलकने पुलिनों पर भी लगी,
गगन के तल की यह लालिमा।
सरित औ सर के जल में पड़ी,
अरुणिमा अति ही रमणीय थी ॥ ४ ॥

अचल के शिखरों पर जा पड़ी,
किरण पादप-शीश विहारिणी।

तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला,
गगन-मण्डल मध्य शनैःशनैः ॥ ५ ॥

ध्वनि-मयी करके गिरि-कन्दरा,
कलित-कानन केलि निकुंज को।
मुरलि एक बजी इस काल ही,
तरणिजा-तट-राजित-कुंज में ॥ ६ ॥

क्वणित मंजु-विषाण हुए कई,
रणित शृंग हुए बहु साथ ही।
फिर समाहित-प्रान्तर-भाग में,
सुन पड़ा स्वर धावित-धेनु का ॥७॥

कियत ही क्षण में बन-वीथिका,
विविध धेनु विभूषित हो गई।
धवल-धूसर वत्स समूह भी,
समुद्र था जिनके सँग सोहता ॥ ८ ॥

जब हुई समवेत शनैः शनैः,
सहित गो-गण मण्डलि ग्वाल की।
तब चली ब्रज-भूषण को लिये,
वह अलंकृत-गोकुल-ग्राम को ॥ ९ ॥

गगन के तल गोरज छा गई,
दश-दिशा बहु शब्दमयी हुई।
विशद-गोकुल के प्रति गेह में,
बह चला वर-श्रोत विनोद का ॥ १० ॥

दिन समस्त समाकुल से रहे,
सकल मानव गोकुल ग्राम के।

अब दिनान्त विलोकत ही बढ़ी,
ब्रज-विभूषण दर्शन-लालसा ॥ ११ ॥

सुन पड़ा स्वर ज्यों कल-वेणु का,
सकल ग्राम समुत्सुक हो उठा।
हृदय यंत्र निनादित हो गया,
तुरत ही अनियंत्रित भाव से ॥ १२ ॥

वय-वती युवती बहु-बालिका,
सकल बालक वृद्ध वयस्क भी।
विवश से निकले निज गेह से,
स्वदृग का दुख मोचन के लिये ॥१३॥

इधर गोकुल से जनता कढ़ी,
उमगती अति आनन्द में पगी।
उधर आ पहुँची बलवीर की,
विपुल-धेनु-विमण्डित मण्डली ॥ १४ ॥

कुकुभ - शोभित गोरज बीच से,
निकलते ब्रज-वल्लभ यों लसे।
कदन ज्यों करके दिशि कालिमा,
विलसता नभ में नलिनीश है ॥१५॥

भेद की बातें

है उसी एक की झलक सबमें,
हम किसे कान कर खड़ा देखें।
तो गड़ेगा आंख में न कोई,
हम अगर दीठि को गड़ा देखें ॥ १ ॥

एक ही सुर सब सुरों में है रमा,
सोचिये, कहिये कहाँ वह दो रहा।
हर घड़ी, हर अवसरों पर, हर जगह,
हरि-गुनों का गान ही है हो रहा ॥२॥

चाहिये था कि गुन भरे के गुन,
भाव में ठीक ठीक भर जाते।
पा सके जो न एक गुन भी तो,
क्या रहे बार-बार गुन गाते ॥ ३ ॥

क्या हुआ मुँह से सदा हरि-हरि कहे,
दूसरों का दुख न जब हरते रहे।
जब दया वाले बने न गया दिया,
तब दया का गान क्या करते रहे ॥४॥

सांस पाते जब बुराई से नहीं,
लाभ क्या तब सांस की सांसत किये।
जब दबाये से नहीं मन ही दबा,
नाक को तब दबाते किस लिये ॥५॥

देख कर अपने लड़ँते लाल को,
कब नहीं मुखड़ा रहा माँ का खिला।
प्यार से छाती उछलती ही रही
दूध छाती में छलकता ही मिला ॥ ६ ॥

कौन बेले पर नहीं बनता हितू,
भाव अलबेले कहां ऐसे मिले।
एक माँ के दिल सिवा है कौन दिल,
जाय जो दिल पूत का तलवा छिले ॥ ७ ॥

———

: १४ :

जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'

भीष्म-प्रतिज्ञा

भीषम भयानक पुकारयो रन-भूमि आनि,
छाई छिति छत्रिनि की गीत उठि जाइगी।
कहैं 'रत्नाकर' रुधिर सौं रुँधेगी धरा,
लोथनि पै लोथनि की भीति उठ जायगी।।
जीति उठि जायगी, अजीति पांडु-पूतनि की,
भूप दुरजोधन की भीति उठि जाइगी।
कै प्रीति-रीति की सुनीति उठ जाइगी कै,
आज हरि-पन की प्रतीति उठि जायगी।। १ ।।

पारथ बिचारौ पुरुषारथ करैगो कहां,
स्वारथ समेत परमारथ नसैहौं मैं।
कहै 'रत्नाकर' प्रचारयो रन भीषम यौं,
आज दुरजोधन-दुख हरि दैहौं मैं।।
पंचनि कै देखत प्रपंच करि दूरि सबै,
पंचनि कौ स्वत्व पंचतत्व में मिलैहौं मैं।
हरि-पन-हरि-जस धारि कै धरा ह्वै सांत,
सांतनु कौ सुभट सपूत कहवैहौं मैं।। २ ।।

वीर अभिमन्यु

बीरनि के मान और गुमान रनधीरनि के,
आन के विधान भट वृन्द घमसानी के।

कहै 'रत्नाकर' विमोह अन्ध-भूपति के,
द्रोह के संदोह सूतपूत अभिमानी के ॥
द्रोन के प्रबोध दुरबोध दुरजोधन के,
आयु-औधि-दिवस जयद्रथ उठानी के।
कौरव के दाप ताप पांडव के जात बहे,
पानी मांहि पारथ सुपूत की कृपानी के ॥ १ ॥
गांडीव-ध्वनि को लाल आइ व्यूह मांडव मैं,
ऐसो रन-तांडव मचायौ कर-कस तैं।
कहै 'रत्नाकर' गुमान अवसान मान,
करैंगे पयान अरि-प्रान सरकस तैं।
काटे देत रोदा दंड चंड बरिवंडनि के,
छाँटे भुजदंड देत बान करकस तैं।
ऐंचन न पावैं धनु नैंकु धाक-धारी धीर,
खैंचन न पावैं वीर तीर तरकस तैं ॥ २ ॥

उद्धव गोकुल गमन (उद्धव शतक से)

लैकै उपदेस-औ-संदेसपन ऊधौ चले,
सुजस-कमाइवैं उछाह-उदगार मैं।
कहै रतनाकर निहार कान्ह कातर पै,
आतुर भये यौं रह्यो मन न संभार मैं।
ज्ञान-गठरी की गाँठि छरकि न जान्यौ कब,
हरैं हरैं पूंजी सब सरकि कछार मैं ॥
डार मैं तमालिन की कछु विरमानी अरु,
कछु अरुझानी है करीरनि की झार मैं ॥१॥
भेजे मन भावन के ऊधव के आवन की,
सुधि ब्रज गाँवनि मैं पावन जबै लगी।

कहै रतनाकर गुवालिन की झौरि झौरि,
दौरि-दौरि नन्द-पौरि आवन तबै लगीं ।।
उझकि उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै,
पेखि पेखि पाती छाती छोहति छबै लगी ।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यो है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं ।।२।।
दीन दशा देखि ब्रजबालनि की ऊधव कौ,
गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से ।
कहै रतनाकर न आए मुख बैन, नैन,
नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने-से ।।
सूखे से स्रमे से सकबके-से सके-से थके,
भूले से भ्रमे से भभरे से भकुआने-से ।
हौले से हले से हूलहूले से हिये मैं हाय,
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने-से ।। ३ ।।
पंच-तत्व मैं जो सच्चिदानंद की सत्ता सो तौ,
हम तुम उनमें समान ही समोई है ।
कहै 'रतनाकर' बिभूत पंच-भूत हू की,
एक-ही-सी सकल प्रभूतनि में पोई है ।।
माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै,
कांच-फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है ।
देखौ भ्रम-पटल उघारि ग्यान-आंखिनि सौं,
कान्ह सब ही मैं कान्ह ही मैं सब कोई है ।।४।।
सुनि-सुनि ऊधव की अकह कहानी कान,
कोऊ थहरानी, कोऊ थानहिं थिरानी हैं ।

कहैं 'रतनाकर' रिसानी, बररानी कोऊ,
कोऊ बिलखानी, बिकलानी बिथकानी हैं ॥

कोऊ सेद-सानी कोऊ-भरि पानी दृग रहीं,
कोऊ घूमि-घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं।

कोऊ स्याम-स्याम कै बहकि बिलखानी कोऊ,
कोमल करेजौ थामि सहमि सुखानी हैं ॥५॥

रंग-रूप रहित लखात सब ही हैं हमैं,
वैसो एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा,

कहै रतनाकर जरी हैं विरहानल मैं,
और अब जोति कौं जगाइ जरि हैं कहा।

राखौ धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म,
तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा।

एक ही अनंग साधि साधि सब पूरी अब,
और अङ्ग-रहित अराधि करि हैं कहा ॥६॥

सुघर सलोने स्याम सुन्दर सुजान कान्ह,
करुना-निधान के बसीठ बनि आये हौ।

प्रेम-प्रनधारी गिरिधारी कौ सनेसौ नाहिं,
होत है अँदेसौ झूठ बोलत बनाये हौ ॥

ग्यान-गुरु-गौरव-गुमान-भरे फूले फिरौ,
बंचक के काज पै न रंचक बनाये हौ।

रसिक-सिरोमनि कौ नाम बदनाम करौ,
मेरी जान ऊधौ कूर कूबरी-पठाये हौ ॥ ७ ॥

आये लौटि लज्जित नवाये नैन ऊधौ, अब,
सब सुख साधन कौ सूधौ-सौ जतन लै ।
कहै 'रतनाकर' गंवाये गुन-गौरव औ,
गरब गढ़ी कौ परिपूरन पतन लै ॥

छाए नैन नीर पीर-कसक कमाए उर,
दीनता अधीरता के भार सौं नतन लै ।
प्रेम-रस रुचिर विरागतूमड़ी मैं पूरि,
ज्ञानगूदड़ी में अनुराग सौ रतन लै ॥ ८ ॥

——

: १५ :

श्री मैथिलीशरण गुप्त

कैकेयी का पश्चात्ताप

तदनन्तर बैठी सभा उटज के आगे,
नीले वितान के तले दीप बहु जागे।
टकटकी लगाये नयन सुरों के थे वे,
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे वे।
उत्फुल्ल करौंदी-कुंज वायु रह रह कर,
करती थी सबको पुलक-पूर्ण मह मह कर।
वह चन्द्र लोक था, कहाँ चांदनी वैसी,
प्रभु बोले गिरा गंभीर नीरनिधि जैसी।
"हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना,"
सब सजग होगये, भंग हुआ ज्यों सपना।
"हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी?
मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी?
पाया तुमने तरुतले अरण्य-बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा?
तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा?
हा? इसी अयश के हेतु जनन था मेरा,
निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा।
अब कौन अभीप्सित और आर्य, वह किसका?
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।

मुझसे मैंने ही आज स्वयं मुंह फेरा ,
हे आर्य, बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा ?"
प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा ,
रोदन-जल से सविनोद उन्हें फिर सींचा ।
"उसके आशय की थाह मिलेगी किसको ,
जन कर जननी ही जान न पाई जिसको ?"
"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को ,"
चौंके सब सुन कर अटल कैकेयी स्वर को ।
"हां, जन कर भी मैंने न भरत को जाना ,
सब सुन लें तुमने स्वयं अभी यह माना ।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया ,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया ।
दुर्बलता का ही चिह्न विशेष शपथ है ,
पर, अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है ।
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ ,
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ ।
ठहरो, मत रोको मुझे, कहूँ सो सुन लो ,
पाओ यदि उसमें सार उसे सब चुन लो ।
करके पहाड़ सा पाप मौन रह जाऊं
राई भर भी अनुताप न करने पाऊं ?"
"क्या कर सकती थी, मरी मन्थरा दासी ,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी ।
जल पंजर गत अब अरे अधीर, अभागे ,
वे ज्वलित भाव थे स्वयं तुझी में जागे ।

पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में ?
क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन में ?
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य मात्र, क्या तेरा ?
पर आज अन्य सा हुआ वत्स भी मेरा ?
थूके, मुझ पर त्रैलोक्य, भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके ?

छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझ से,
रे राम, दुहाई करूं और क्या तुझ से ?
कहते आते थे यही अभी नर-देही,
"माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।"
अब कहें सभी यह हाय! विरुद्ध विधाता,
"है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता ?"
बस मैंने इसका बाह्य मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा।
परमार्थ देखा पूर्ण स्वार्थ ही साधा,
इस कारण ही तो हाय! आज यह बाधा।
युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
"रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।"
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा,
"धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।"
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई"
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई,
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।"

ध्वज-वंदना

यह पुण्य पताका फहरे,
मुक्त वायु-मंडल में अपनी मानस - लहरी लहरे।
जय - मैत्री - करुणा - धारामय यह ध्वज-चक्र हमारा,
कभी क्रांति का सूर्य यही है, कभी शांति-शशि-तारा।
हमें विजय का सूत्र मिला है, इसी चक्र के द्वारा,
रक्षक यही सुदर्शन अपना किरण - कुसुम-सा प्यारा।
काल - चक्र यह हाथ हमारे, लक्ष्य क्यों न थक थहरे।
यह पुण्य पताका फहरे।

कर्म - क्षेत्र हरा है अपना, ज्ञान शुभ्र मनमाना,
बलि बलवती विनीत भक्ति का कल केसरिया बाना।
इस त्रियोग के तीर्थराज में हमें स्वधर्म निभाना,
अपनी स्वतंत्रता से सबका मुक्ति-मंत्र है पाना।
सब समान भागी जीवन के, यही घोषणा घहरे।
यह पुण्य पताका फहरे।

त्याग हमारा धर्म, किंतु हम हरण कभी न सहेंगे;
दानवता से मानवता का वरण कभी न सहेंगे।
किसी आततायी का तुष्टीकरण कभी न सहेंगे,
और कहीं भी व्यर्थ किसी का मरण कभी न सहेंगे।
वह नरता ही क्या बर्बरता जिसके आगे ठहरे।
यह पुण्य पताका फहरे।

इस ध्वज पर जूझे स्वजनों का ध्यान जहां जाता है,
मस्तक ऊँचा होने पर भी मन भर - भर आता है।
निर्भय मृत्यु - वरण कर ही नर अमर कीर्ति पाता है,
ऐसे पुत्रों की ही आशा रखती भू - माता है।
भू - माता का यह अञ्चल - पट छाया करके छहरे।
यह पुण्य पताका फहरे!

निर्बल का बल

निर्बल का बल राम है।
हृदय! भय का क्या काम है?

राम वही कि पतित-पावन जो
परम दया का धाम है।
इस भवसागर से उद्धारक
तारक जिसका नाम है।
हृदय भय का क्या काम है?

तन-बल, मन-बल और किसी को
धन-बल से विश्राम है।
हमें जानकी—जीवन का बल
निशिदिन आठों याम है।
हृदय भय का क्या काम है?

———

: १६ :

पं० माखनलाल चतुर्वेदी

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं, मैं सुरबाला के,
गहनों में गूंथा जाऊं।
चाह नहीं, प्रेमी माला में,
बिंध प्यारी को ललचाऊं॥
चाह नहीं सम्राटों के शव पर,
हे हरि! डाला जाऊं।
मुझे तोड़ लेना वनमाली,
उस पथ पर तुम देना फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जाते वीर अनेक॥

उन्मूलित वृक्ष

भला किया, जो इस उपवन के
सारे पुष्प तोड़ डाले,
भला किया, मीठे फल वाले,
ये तरुवर मरोड़ डाले,
भला किया, सींचो पनपाओ
लगा चुके हो जो कलमें,
भला किया, दुनिया पलटा दी
प्रबल उमंगों के बल में।

लो हम तो चल दिये,
नये पौधा प्यारो, आराम करो,
दो दिन की दुनिया में आये,
हिलो-मिलो कुछ काम करो।

पथरीले ऊँचे टीले हैं,
रोज नहीं सींचे जाते,
वे नागर न यहाँ आते हैं,
जो थे बागीचे आते ?
झुकी टहनियाँ तोड़ तोड़ कर
बनचर भी खा जाते हैं,
शाखा-मृग कंधों पर चढ़ कर
भीषण शोर मचाते हैं।

दीनबन्धु की कृपा, बन्धु,
जीवित हैं, हाँ, हरियाले हैं,
भूले-भटके कभी गुजराना,
हम वे ही फल वाले हैं।

जीवन-झरना

मेरी वीणा की कटुता धो डाल तरल तारों से;
मैं तुझ-सा पागल होके, बह उठूं हृदय-द्वारों से।
चढ़कर, गिरकर, फिर उठकर, कहता तू अमर कहानी;
गिरि के अंचल में करता कूजित कल्याणी वाणी।
क्या मेरे गीत मधुर हैं ? पड़ गया तुम्हारा पानी ?
ऊँचे-नीचे टीलों से, मैंने कब कही कहानी ?
पाषाणों से लड़कर भी ठंडक कब मैंने जानी ?
कब जी का मल धो पाता, मेरी आंखों का पानी ?

कब श्रमित पा सके मुझ में, शीतल तुषार की धारा ?
मैंने प्रियतम की रुख कब गिरकर उठकर पथ धारा ?
मैं भूमण्डल को कृति से हूँ कुंभीपाक बनाता;
तू स्वर्गंगा बन कर के सुर-लोक मही पर लाता।
मैं उपकारी के प्रति भी, ममता बारूद बनाता;
हूं अपनी कुटी जलाता, उसके घर आग लगाता।
तू 'मित्र'—प्रमत्त करों से ग्रीषम में प्राण सुखाता;
पर उसका स्वागत गाकर, किरनों पर अर्घ्य चढ़ाता।
मेरे गीतों की प्यारे! बूंदें न सूखने पातीं;
विस्मृति पथ जोहा करती, अपना शृंगार बनातीं।
पंछी-दल ने पर तेरे गीतों का गान किया है,
हरि ने तेरी वाणी को अमरत्व प्रदान किया है।
क्या जाने तरु पंखेरु तुझ को लख क्यों जीते हैं ?
तेरा कलकल पीते हैं, या तेरा जल पीते हैं ?

त्याग का आदर्श

मत व्यर्थ पुकारे शूल शूल,
कह फूल फूल, सह फूल फूल।
हरि को हीतल में बन्द किये।
केहरि से कह नख हूल हूल।
कागों का सुन कर्त्तव्य राग।
कोकिल कलरव को भूल भूल॥

सुरपुर ठुकरा आराध्य कहे,
तो चल रौरव के कूल कूल।
भूखंड बिछा आकाश ओढ़,
नयनोदक ले मोदक प्रहार।
ब्रह्मांड हथेली पर उछाल,
अपने जीवन धन को निहार॥

: १७ :

श्री जयशंकर प्रसाद

किरण

किरण तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किस के अनुराग।
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो मधुमय सुपराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल,
वेदना दूती सी तुम कौन,
अरुण शिशु के मुख पर सविलास,
सुनहरी-लट घुँघराली कान्त,
नाचती हो जैसे, तुम कौन,
उषा के अंचल में अश्रांत?
भला उस भोले मुख को छोड़,
चली हो किसे चूमने भाल।
खेल है कैसा, या है नृत्य?
कौन देता है सम पर ताल?
कोकनद-मधु-धारा सी तरल,
विश्व में बहती हो किस ओर?
प्रकृति को देती परमानन्द,
उठा कर सुन्दर सरस हिलोर।

स्वर्ग के सूत्र सदृश तुम कौन,
मिलाती हो उस से भूलोक ?
जोड़ती हो कैसा सम्बन्ध ?
बना दोगी क्या विरज विशोक ?
सुदिन-मणि वलय विभूषित उषा,
सुन्दरी के कर का संकेत,
कर रही हो तुम किस को मधुर ?
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत ?
चपल ठहरो कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त।
सुमन-मन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिर सोया वहां बसन्त।

आदेश

कौन कहता है कानों में, किसी का कहना तू मत मान।
अन्ध विश्वास दिलाते वे, इसी में बनते हैं विद्वान्॥
शुद्ध मानस की लहरी लोल, पंक्तियां पावन लिखीं विचित्र।
छोड़ ममता पढ़ ले इसको, यही है शुभ आदेश महान॥

तोड़ कर बाधा बन्धन भेद, भूल जा अहमिति के यह स्वार्थ।
सुधा भर ले जीवन घट में, द्वन्द्व का विष मत कर तू पान॥
प्रार्थना और तपस्या क्यों ? पुजारी किस की है यह भक्ति।
डरा है तू निज पापों से, इसी से करता निज अपमान॥
दुखी पर करुणा क्षण भर हो, प्रार्थना पहरों के बदले।
मुझे विश्वास है कि वह सत्य, करेगा आकर तव सम्मान॥

आंसू

चातक की चकित पुकारें श्यामा-ध्वनि तरल रसीली,
मेरी करुणार्द्र-कथा की टुकड़ी आँसू से गीली।
बेसुध जो अपने सुख से जिनकी हैं सुप्त व्यथायें,
अवकाश भला है किनको सुनने की करुण कथायें।
जीवन की जटिल समस्या है बढ़ी जटा सी कैसी,
उड़ती है धूल हृदय में किसकी विभूति है ऐसी ?
जो घनीभूत ? पीड़ा थीमस्तक में स्मृति सी छाई,
दुर्दिन में आँसू बन कर वह आज बरसने आई।
शीतल ज्वाला जलती है ईंधन होता दृग-जल का,
यह व्यर्थ साँस चल-चल कर करती है काम अनिल का।
बस गई एक बस्ती है स्मृतियों की इसी हृदय में,
नक्षत्र लोक फैला है जैसे इस नील निलय में।

अशोक की चिंता

जलता है यह जीवन-पतंग !
जीवन कितना ? अति लघु क्षण ये शलभ पुंज मे कण-कण,
तृष्णा वह अनल शिखा बन—दिखलाती रक्तिम यौवन।
जलने की क्यों न उठे उमंग ?
है ऊँचा आज मगध-शिर—पदतल में विजित पड़ा गिर;
दूरागत क्रन्दन-ध्वनि फिर क्यों गूँज रही है अस्थिर—
कर विजयी का अभिमान भंग ?
इन प्यासी तलवारों से, इनकी पैनी धारों से,
निर्दयता की मारों से, उन हिंसक हुँकारों से,
नत-मस्तक आज हुआ करि ?
यह सुख कैसा शासन का ? शासन रे मानव मन का !

गिरि-भार-बना सा तिनका, यह घटाटोप दो दिन का—
फिर रवि शशि किरणों का प्रसंग !

यह महा दम्भ का दानव, पीकर अनंग का आसव—
कर चुका महा भीषण रव, सुख दे प्राणी को मानव—
तज विजय-पराजय का कुढंग।

संकेत कौन दिखलाती, मुकुटों को सहज गिराती,
जयमाला सूखी जाती, नश्वरता गीत सुनाती,
तब नहीं थिरकते हैं तुरंग !

वैभव की यह मधुशाला, जग पागल होने वाला,
अब गिरा—उठा मतवाला, प्याले में फिर भी हाला,
यह क्षणिक चल रहा राग-रंग।

काली काली अलकों में, आलस, मद-नत पलकों में,
मणि मुक्ता की झलकों में, सुख की प्यासी ललकों में,
देखा क्षण भंगुर है तरंग।

फिर निर्जन उत्सव-शाला, नीरव नूपुर श्लथ माला,
सो जाती है मधुबाला, सूखा लुढ़का है प्याला,
बजती वीणा न वहां मृदंग।

इस नील विषाद गगन में, सुख चपला सा दुख-घन में,
चिर विरह नवीन मिलन में, इस मरु-मरीचिका-बन में,
ऊलझा है चंचल मन कुरंग।

आंसू कन-कन ले छल-छल, सरिता भर रही दृगंचल,
सब अपने में हैं चंचल, छूटे जाते सूने पल,
खाली न काल का है निषंग।

वेदना विकल यह चेतन, जड़ का पीड़ा से नर्तन,
लय सीमा में यह कम्पन, अभिनयमय है परिवर्तन,
चल रहा यही कब से कुढंग।

करुणा-गाथा गाती है, यह वायु बही जाती है,
ऊषा उदास आती है, मुख पीला ले जाती है,
बन मधु पिंगल संध्या सुरंग।

आलोक किरन है आती, रेशमी डोर खिंच जाती,
दृग पुतली कुछ नच पाती, फिर तम-पट में छिप जाती,
कलरव कर जो जाते बिहंग।

जब पल भर का है मिलना, फिर चिर वियोग में झिलना,
एक ही प्रात है खिलना, फिर सूख धूल में मिलना,
तब क्यों चटकीला सुमन-रंग?

संसृति के विक्षत पग रे! यह चलती है डगमग रे!
अनुलेप सदृश तू लग रे! मृदु दल बिखरे इस मग रे!
कर चुके मधुर मधु पान भृंग।

भुनती वसुधा, तपते नग, दुखिया है सारा अग–जग,
कंटक मिलते हैं प्रति पग, जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरंग, जलता है यह जीवन पतंग।

————

: १८ :

ठाकुर गोपालशरण सिंह

भारत

हो तुम प्राची–रवि रश्मि माल ;
हे विश्व-वन्द्य भारत विशाल !
हे गुण गण के गौरव गणेश !
हे सुरपुर के वैभव अशेष !
हे सप्त-सिन्धु सेवत विशेष !
आचार्य जगत के आर्य देश !

हो जगत-प्राण तुम प्रणत-पाल,
हे विश्व-वन्द्य भारत विशाल !
हे आदि तपस्वी पुण्यवान !
हे आदि सभ्यता के निधान !
हे आदि यती के साम गान !
हे आदि जगत के उपाख्यान !

हो आदि ज्ञान तक तुम रसाल,
हे विश्व-वन्द्य भारत विशाल !
हे आदि काल के शूर वीर !
गम्भीर नीर-निधि से गम्भीर !
हे विश्व विजेता समर-धीर !
हे अखिल-सिन्धु के विपुल तीर !

हो तुम मानव मानस मराल,
हे विश्व-वन्द्य भारत विशाल !

हे ऋद्धि सिद्धि के रुचिर धाम !
सुभाष के लीलास्थल ललाम !
हे जन्म सिद्धि साधक अकाम !
हे दिव्य काम, हे दिव्य नाम !

हो जग-जीवन के उषाकाल,
हे विश्व-वन्द्य भारत विशाल !

हे दीनबन्धु नव दया स्रोत !
हे दुखियों के दुःख जलधि-पोत !
हे विश्व प्रेम से ओत-प्रोत !
हे दिनमणि निशि-वासर उदोत !

हो हिमगिरि मस्तक उच्च भाल,
हे विश्व-वन्द्य भारत विशाल !

हे अनुरागी त्यागी अपार !
हे कर्मयोग रत शुचि विचार !
हे गुरु ज्ञानी दानी उदार !
हे अखिल सृष्टि के स्वर्ग द्वार !

हे नव्य पुरातन वृद्ध बाल,
हे विश्ववन्द्य भारत विशाल !

हे विपुल विश्व के विधि विकास !
हे अन्तर रवि के प्रिय प्रकाश !
हे भव्य विभूतियों के विलास !
हे चिदानन्द के चिर निवास !

हो सुर तरु पुष्पित डाल डाल,
हे विश्व-वन्द्य भारत विशाल !

हे सत्य शील संयम निधान !
हे मेधावी सु-चरित्र दान !
हे शक्ति-भक्ति भाजन सुजान !
हे निज विनीतता से महान् !
हो तुम वसुधा के प्रेम जाल,
हे विश्व-वन्द्य भारत विशाल !

अचरज

मैंने कभी सोचा, वह मंजुल मयंक में है,
देखता इसी से उसे चाव से चकोर है।
कभी यह ज्ञात हुआ वह जलधर में है,
नाचता निहार के उसी को मंजु मोर है ॥
कभी यह हुआ अनुमान वह फूल में है,
दौड़ कर जाता भृंग वृन्द उस ओर है।
कैसा अचरज है, न मैंने जान पाया कभी,
चित्त मेरे में ही छिपा मेरा चितचोर है ॥

———

: १६ :

वियोगी हरि

(१)

कृष्ण स्तुति

जयतु कंस-करि-केहरी, मधु-रिपु केशी-काल ।
कालिय-मद-मर्दन हरे, केशव, कृष्ण कृपाल ॥१॥
गिरवरु जापै धारिकैं, राखी ब्रज-जन-लाज ।
ताही छिगुनी कौ हमें बल-बानो यदुराज ॥२॥

काटौ कठिन कलेस मो मोह-मार-मद-वक्र ।
मथन-मत्त-शिशुपाल-करि केहरि केशव-चक्र ॥३॥
रह्यो उरझि रथ-चक्र जो धावत भीषम-ओर ।
कब गहिहौं रणछोर के वा पटुका कौ छोर ॥४॥

(२)

राघव स्तुति

मौल जटा, धनु-बान कर, मुख प्रसेदु, अंग श्रान्त ।
बसौ विजयराघव हियें, किये रूप रण क्रान्त ॥१॥
कलित कंध धनु, तून कटि, कर सर सरजू-तीर ।
सँग सखानि बानिक यहै, बसौ दृगनि रघुबीर ॥२॥
जटा-मुकुट सिर-चाप कर, कलित कलेवर स्याम ।
दसमुख करि केहरि रमौ दृगनि राम अभिराम ॥३॥
रहौ पूरि स्रवननि सदा, त्रिजग-प्रकंपनहार ।
व-त्रंब-धर-संक-कर, जुगल-चाप-टकार ॥४॥

(३)

शक्ति स्तुति

शक्ति-शक्ति, शिव शक्ति-जय, जगत ज्योति जगदम्ब !
आरत-भारत-आर्त्ति कों क्यों न हरति अबिलम्ब ? ।।१।।
त्रिभुनेश्वरी, त्रयनयनि, जय, त्रिशूलिनी अम्ब ।
जन-त्रिताप-उपशमन में, क्यों अब करति बिलम्ब ।।२।।
महिष-शूलिनी, शूलिनी, मौलि-मालिनी, त्राहि ।
जय जगदम्ब, कपालिनी, प्रणत-पालिनी, पाहि ।।३।।
प्रलय-हास जब कालिका, करति स्वभाव स्वच्छन्द ।
दहक-दंत-दुति-दमक तें परत सूर्यशत मन्द ।।४।।
अट्टहास करि, धारि त्यौं मौलि-माल अविलम्ब ।
आदिनटी शिव-सँग नटी प्रलय नाट्य जग-अम्ब ।।५।।
कर्षत रवि-रथ-चक्र जो, नित नभ ताण्डव माँह ।
रहौ, अम्ब ! जन सीस पै, बहै बाँह की छाँह ।।६।।
या भारत आरति हरौ सोइ शक्ति द्रुत धाय ।
जासु प्रलय-पग परतहीं शवहू शिव ह्वै जाय ।।७।।
कब कौ ठाढ्यौ पौरि पै, सुनत नाहिं कछु अम्ब !
कहौ, कहाँ तुव अंक तजि सिसुहिं आन अवलम्ब ? ।।८।।
निबलनु कों साँसत सबल, तुव देखत बसुयाम ।
कहा जानि, धर्‌यौ जननि !'महिष मर्दिनी' नाम ? ।।९।।
कलपि-कलपि भूखनि मरति तुव संतति अभिराम ।
कहा जानि धारयौ जननि ! 'अन्नपूरणा' नाम ।।१०।।

(४)

मारुति वन्दना

कनक-कोट-कंगूर जेहिं किये धौरहर धूम ।
सो भारत-आरति हरौ मारुति-लाँबी-लूम ।।१।।

लाँबी लूम घुमायकै कनक-कोटि चहुँ ओर ।
करत केलि किलकारि दै कपि केसरी-किसोर ॥२॥

(५)

शिव वन्दना

दलौ त्रिशूल त्रिशूलधर ! त्रिभुवन-प्रलयंकारि ।
हर, त्र्यम्बक त्रैलोक्य-पर, त्रिदश-ईश, त्रिपुरारि ॥१॥

(६)

केसरी वन्दना

गौरी-कर-लालित सदा, पसुपति-पालित जोय ।
दनुज-दमन दारुन दरौ दुरित केसरी सोय ॥१॥

———

: २० :

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

शिखर पर

चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत, रे बलि वध के सुन्दर जीव,
उच्च कठोर शिखर के ऊपर है मन्दिर की नींव,
बड़े बड़े ये शिलाखंड मग रोके पड़े अचेत,
इन्हें लाँघ तू, यदि जाना है तुझे मरण के हेत,
ऊपर अगम शिखर के ऊपर, मचा मृत्यु का रास,
नीचे, उपत्यका में, है जीवन पंकिल का त्रास,
चढ़ चल, चढ़ चल, थक मत रे तू बलिदानों के पुंज,
देख कहीं न लुभावे तुमको यह जीवन की कुंज,
मधुर मृत्यु का नृत्य देख तू देने लग जा ताल,
अपना सीस पिरो कर करदे पूरी माँ की माल,
है जीवन अनित्य, कट जाने दे तू मोहक बंध,
कर दे पूरा आज मरण का तू अपना सुप्रबन्ध।

क्या करते हो मोल ?

क्या करते हो मोल ?
अरे, क्या कहा ? कितना वैभव, करते जिसका मोल !
बाकी क्या जर्जर झोली में, देखो आँखें खोल !!
चिर-संचित जीवन की निधियां, लुटा चुका अनमोल,
ठुकराती दुनियाँ दीवानी, और बोलती बोल

तन, मन क्या सर्वस्व सौंपकर, हूँ मैं आज भिखारी !
मोल, मोल कह क्यों करते मेरा उपहास पुजारी !
मुझे याद हैं, दिन अतीत के आंखमिचौनीवाले,
अथक केलि करते थे हिलमिल, आसव-प्याले ढाले;
उसी समय अनजान प्रकृति ने, लाखों दीपक बाले,
रजत-रजनियों में भूला था, अगणित–आशा–पाले।
क्रीड़ा की उज्ज्वल रजनी में आया दुखद सवेरा,
शुचि जीवन के कण–कण में पीड़ा ने डाला डेरा।

\+ + +

चिर-ज्योतिर्मय जीवन में हुआ अचानक परिवर्तन,
कोटि-कोटि वैभव बन्धन बन, करते भीषण नर्तन;
शैशव स्मृतियां रोतीं रह–रह, खुलते दुख के लोचन;
विकल वेदना बढ़ती पल–पल, करती करुणा-क्रन्दन !
सुख-सौरभ का रवि छिप जाता घिरती रजनी काली,
आंसू, उच्छ्‌वासों से केवल, सजती जीवन–प्याली।

\+ + +

हास और उपहास त्याग कर देखो हृदय टटोल;
दीवानों के धन, वैभव का क्या करते हो मोल ?

आओ, नव निर्माण करें

आओ हिय में भरे उमंगें, आओ नव निर्माण करें।
आज उछालें नयी तरंगें, गन में नूतन प्राण भरें॥
इस सामाजिक सड़े कुष्ठ का ध्वंस करें विध्वंस करें ;
आओ, इस अभिशाप-पाप को हम सब मिल निर्वंश करें।
फैले हैं कीटाणु सड़न के हम इनके सब अंश हरें;

जग में आज नये भेषज का हम सब नवल विधान करें।
आओ हियमें भरे उमंगे, आओ नव निर्माण करें ॥१॥

मानवता का यह विराट तन ? पूति-गंध-संयुक्त हुआ;
कोढ़ी है यह नर-नारायण, सब देवत्व विलुप्त हुआ।
सड़ा हृदय, मस्तिष्क सड़ चला, अंग-अंग से कोढ़ चुआ;
आओ, हम इस मानवता को नूतन जीवन दान करें।
आज उछालें नयी तरंगे जग में नूतन प्राण भरें ॥२॥

किये घाव किसने कि सड़े हैं जो इस मानव के तन पर;
किसके हैं ये व्रण या हुए हैं अंकित मानव के तन पर।
इसका तो दायित्व भार है अरे हमी सब जन गन पर;
हमी पातकी हैं! किस-किसका हम गुण-दोष बखान करें।
छोड़ो ये सब दोष-कथायें आओ नव निर्माण करें ॥३॥

जिनमें मानव की छवि थी वह चित्राधार बना हिम-भ्रम;
हाय वही आधेय हो गया जो था एक आधार स्वयं।
सामाजिकता की चौखट ही बनी आदरास्पदा परम,
नव मानव के नये चित्त में नया रंग हम दान करें।
आओ, तोड़ें यह चौखट हम नवल चित्र निर्माण करें ॥४॥

आज महान कर्म-आमन्त्रण हमें मिला है अम्बर से;
धनुष-यज्ञ का आज निमन्त्रण आया विजय-स्वयंबर से।
करके मुक्त प्राण, मन, तन, सब सदियों के आडंबर से;
चलो चलें हम विजय-वरणहित नूतन शर संधान करें॥
आओ, हियमें भरें उमंगें जग में नूतन प्राण भरें ॥५॥

प्यासे, धुंधले मट-मैले से, दृग में भरले विजय-छटा;
और, गलित गातोंमें भरले, विद्युत-शक्ति निपट विकटा।
क्षण में ही विलीन होगी यह, अन्धकार घनघोर घटा,

चलो चलें हम अदम उछाही, तुमुल युद्ध की तान भरें।
आज उछालें नयी तरंगें, आओ नव निर्माण करें ॥६॥

यह देखो, योगीश्वर गिरिवर अटल हिमाचल तुङ्ग शिखर,
यह देखो, उसकी गोदीमें, गंग खेलती बिखर-बिखर।
गंगा, यमुना, सरयू, सतलुज, व्यास चली कलकल ध्वनि कर,
आओ अवलोकें यह शोभा, आओ हृदय उड़ान भरें,
आज उछालें नई तरंगें आओ नव निर्माण करें ॥७॥

यह अपना पुराण विन्ध्याचल, ये सब औघट घाट निरे,
भारत के पूरब-पश्चिम के, ये दो भीम कपाट निरे।
यह सतपुड़ा और ये नागा, खसिया शैल विराट निरे,
कहते हैं आओ हम सब मिल, ऊंचा विजय-निशान करें।
आज उछालें नई तरंगें, आओ नव निर्माण करें ॥८॥

ब्रह्मपुत्र, दामोदर नद यह, यह कृष्णा, यह कावेरी,
आज ये सभी हमसे कहते, लगा रहे हो क्यों देरी।
जीवन की सुलगा दो ज्वाला, कर दो भस्म कलुष ढेरी,
सुनकर यह संदेश, भीतियाँ, मनसे क्यों न प्रयाण करें।
आओ, हियमें भरें उमगें, आओ नव निर्माण करें ॥९॥

———

: २१ :

पं० उदयशंकर भट्ट

मेरा देश महान् बने !

एक ध्येय हो, एक ज्ञेय हो, एक समान विधान बने !
मेरा देश महान् बने !
एक देश हो, एक वेष हो,
प्राणवान् हो, सदुद्देश हो,
एक ध्यान हो निज गुरुता का,
एक हिमालय–सी उठान हो,
मरण एक हो, वरण एक हो, जीवन एक समान बने !
मेरा देश महान् बने !
सिंहों से लड़ने वाले हों,
अवसर पर अड़ने वाले हों,
हँसते-हँसते मौत मसलकर
आसमान चढ़ने वाले हों,
वज्र बनें दुश्मन को, प्रिय को फूलों की मुस्कान बनें !
मेरा देश महान् बने !
उठें, देश के लिये उठें हम,
जियें, देश के लिये जियें हम,
गलें, देश के लिए गलें हम,
मरें, देश के लिये मरें हम,
तन में, मन में यही ध्यान हो, 'भारत महिमावान् बने !'

मेरा देश महान् बने !
रोज उषा हँसकर कहती है,
रोज़ निशा हँसकर कहती है,
महासृष्टि में वहीं स्वर्ग है—
भागीरथी जहाँ बहती है,
तीस कोटि कल-कल कंठों से, ध्रुव-भेदी नवगान बने !
मेरा देश महान् बने !

विद्रोही

इस विद्रोही रूढधर्म ने अरि समझा है नर को नर का,
देश देश का हुआ घोर अरि, रक्त रक्त का औ' स्वर स्वर का।
जाति जाति की, कर्म कर्म का, सम्प्रदाय है सम्प्रदाय का।
संस्कृति संस्कृतियों की बैरिन, है उपाय बस पर-अपाय का।
तुम क्या जानो ? कितने जीवन अग्नि-शिखा के पान बने हैं,
और लपलपाती जिह्वा से व्यालों के सम्मान बने हैं।
ठुकराते-कराहते कितने इसी धरा के ग्रास बने हैं,
केवल ध्येय-सिद्धि के पीछे जीवन नाश-विलास बने हैं।
अरे आज भी उसी धर्म ने तुम्हें गिरा कर पशु कर डाला,
और स्वार्थ ने मन्थर गति से चल कर मानव को मथ डाला।
एक पृथकता तुमने नर के अन्तर में फिर आकर भर दी,
एक भेद की भित्ति सुदृढ़-सी लाकर खड़ी कहीं से करदी।
आज बन्धुता फूट-फूट कर मुँह ढक आँचल में रोती है,
आज शान्ति नर आंसू से अपना अंग-अंग धोती है।
राजनीति यह नहीं, नाश का यह विराट-सा आवाहन है,
कुटिल नीति यह नहीं, मृत्यु का—महामृत्यु का आवाहन है।
आओ, बढ़ कर आग लगा दें उस समाज में, जिसमें छल है,
जिसमें कपट ईर्ष्या जलती, जहाँ स्वार्थ का दावानल है।

जहाँ भृकुटि के संकेतों पर कोटि कोटि के प्राण छूटते,
वैभव खेल खेल में नर को मसल-मसल आनन्द लूटते।
जहाँ बेगुनाहों की लाशें एक नया पर्वत बन जातीं,
जहां बादलों की छाती से जाकर पीड़ाएँ टकरातीं।
वहां फूट चल एक बार तू विश्ववन्हि ओ ! महाज्वाल तू !
वहाँ भभक कर धरा फोड़, नभ तोड़, चण्ड हो महाकाल तू !
मैं विद्रोही मुझे शाप का कोई भी सन्ताप नहीं है,
मेरा तो बस धर्म यही है यही कि मुझ में पाप नहीं है।
आडम्बर भी नहीं, विनय भी नहीं, कपट भी नहीं; कहीं है,
नग्न-नाश से खेल खेल कर तुम्हें सुनाना सही सही है।

विदा

(१)

सोजाने को जगता है,
मेरा जीवन मतवाला।
खाली कर देने को ही,
साकी भर देती प्याला।
खिलते हैं मुरझाने को,
दो दिन के जग पर हँसकर।
लुटते थे फूल लुटा सब,
अपने दुलार पृथ्वी पर।

(२)

मेरे अलमस्त रुदन पर,
आँसू मोती बन जाते
दो सीपों में ढल ढल कर,
जग में रोना बिखराते।

अरमानों की नौका पर
हम जाने को हैं आप।
वरदान बुलाने पहुँचे,
अभिशाप छोड़ने आये।

(३)

रोकर इस हँसते जग का,
आते दुलार था पाया।
मेरे हँसकर जाते ही,
रोने को रोना आया।

जी-भर कर देख लिया,
सब दोपहरी यहीं बताई।
संध्या ले चली चले हैं,
ऊषा लेकर थी आई।

———

: २२ :

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

जय

भारति, जय, विजय करे !
कनक -शस्य- कमल धरे !
लंका पदतल- शतदल
गर्जितोर्मि सागर–जल
धोता शुचि चरण–युगल
स्तव कर बहु अर्थ भरे।
तरु - तृण - बन - लता - वसन
अञ्चल में खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल - कण
धवल - धार हार गले।
मुकुट शुभ्र हिम - तुषार
प्राण - प्रणव ओंकार
ध्वनित दिशाएँ उदार
शत मुख–शतरव – मुखरे !
भारति, जय, विजय करे !
कनक - शस्य कमल - धरे !

बदल राग

झूम-झूम मृदु गरज–गरज घन घोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

झर झर झर निर्झर–गिरि सर में,
घर, मरु तरु–मर्मर सागर में,
सरित–तड़ित–गति–चकित पवन में,
मन में, विजय–गहन–कानन में,
आनन-आनन में रव घोर कठोर—
राग-अमर ! अम्बर में, भर निज रोर !

अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू बरस–बरस रस–धार
पार ले चल तू मुझको
बहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जन भैरव-संसार !

उथल–पुथल कर हृदय—
मचा हलचल—
चल रे चल—
मेरे पागल बादल !

धंसता दलदल,
हँसता है नद खल् खल्
बहता कहता कुलकुल कलकल कलकल !

देख देख नाचता हृदय
बहने को महा विकल–बेकल,
इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन, घोर, गुरु, गहन रोर से
मुझे गगन का दिखा सघन वह घोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

नयन

मद-भरे ये नलिन-नयन मलीन हैं;
अल्प-जल में या विकल लघु मीन हैं ?
या प्रतीक्षा में किसी की शर्वरी
बीत जाने पर हुए ये दीन हैं ?
या पथिक से लोल-लोचन ! कह रहे,
हम तपसी हैं, सभी दुख सह रहे !
गिन रहे दिन ग्रीष्म-वर्षा-शीत के,
काल-ताल-तरंग में हम बह रहे !
मौन हैं, पर पतन में-उत्थान में,
वेणु-वर-वादन-निरत-विभु-गान में।
है छिपा जो मर्म उसका जानते,
किन्तु फिर भी हैं उसी के ध्यान में।
आह ! कितने विमल-जन-मन मिल चुके
हिल चुके, कितने हृदय हैं खिल चुके।
तप चुके वे प्रिय-व्यथा की आँच में,
दुःख उन अनुरागियों के मिल चुके।
क्यों हमारे ही लिये वे मौन है ?
पथिक, वे कोमल कुसुम हैं–कौन हैं ?"

विधवा

वह इष्टदेव के मन्दिर पूजा-सी,
वह दीप शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन--

दलित भारत की विधवा है।
षड्ऋतुओं का शृंगार,
कुसुमित कानन में नीरव पद-संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार--
व्यथा की भूली हुई कथा है
उसका एक स्वप्न अथवा है।
उसके मधु सुहाग का दर्पण,
जिसमें देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन धन,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा--वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा!
हैं करुणा-रस से पुलकित आँखें;
देखो तो भीगीं मन मधुकर की पाँखें
रसावेश में निकल जो गुंजार
वह और न था कुछ, था बस हाहाकार।
करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर,
टुटी कुटी का मौन बढ़ाकर
छिन्न हुए भीगे अञ्चल में मन को—
रूखे सूखे अधर त्रस्त चितवन को
दुनिया की नज़रों से दूर बचाकर
वह रोती अस्फुट स्वर में;
सुनते हैं आकाश धीर निश्चल समीर--
सरिता की वे लहरें भी ठहर ठहर कर!

———

: २३ :

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

अभिलाषा

जग-जीवन में जो चिर महान,
सौन्दर्य-पूर्ण औ, सत्य प्राण,
मैं उसका प्रेमी बनूँ, नाथ !
जो हो मानव के हित समान,
जिससे जीवन में मिले शक्ति,
छूटे, भय, संशय, अन्ध भक्ति,
वह प्रकाश बन सकूँ, नाथ !
मिल जावे जिसमें अखिल व्यक्ति,
दिश दिश में प्रेम प्रभा प्रसार,
हर भेद भाव का। अन्धकार,
मैं खोल सकूँ, चिर मुँदे नाथ !
मानव के उर के स्वर्ग द्वार,
पाकर, प्रभु ! तुमसे अमरदान,
करके मानव का परित्राण,
ला सकूँ विश्व में एक बार,
फिर से नव जीवन का विहान।

'जीवन का श्रम-ताप हरो'

जीवन का श्रम-ताप हरो, हे !
सुख-सुखमा के मधुर-स्वर्ण से सूने जग-गृह-द्वार भरो, हे !
लौटे गृह सब श्रांत चराचर, नीरव तरु-अधरों पर मर्मर,
करुणानत निज कर-पल्लव से विश्व-नीड़ प्रच्छाय करो, हे ! जी०
उदित शुक्र अब अस्त भानु-बल, स्तब्ध पवन, नत-नयन पद्म-दल,
तंद्रिल पलकों में निशि के शशि! सुखद स्वप्न बन कर विचरो, हे! जी०

छाया

कहो कौन हो दमयन्ती-सी तुम तरु के सोई ?
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई !
पीले-पत्रों की शय्या पर तुम विरक्ति—सी, मूर्छा-सी,
विजन—विपिन में कौन पड़ी हो विरह-मलिन, दुख-विधुरा-सी ?

तुम पथ-श्रान्ता द्रुपद-सुता-सी कौन छिपी हो अलि ! अज्ञात,
तुहिन-अश्रुओं से निज गिनती चौदह दुखद-वर्ष दिन रात ?
पछतावे की परछाँई-सी तुम भू पर छाई हो कौन ?
दुर्बलता-सी, अँगराई-सी, अपराधी-सी भय से मौन !

किस रहस्यमय-अभिनय की तुम, सजनि ! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभद्य-पट के भीतर है किस विचित्रता का संसार ।
निर्जनता के मानस-पट पर—बार बार भर ठण्डी साँस—
क्या तुम छिप कर क्रूर-काल का लिखती हो अकरुण इतिहास ?

सखि । भिखारणी-सी-तुम पथ पर, फैला कर अपना अन्चल,
सूखे-पातों ही को पा क्या प्रमुदित रहती हो प्रतिपल ?
कभी लोभ-सी लम्बी होकर कभी तृप्ति-सी हो फिर हीन ?
क्या संसृति की अचिर-भूति तुम सजनि ! नापती हो स्थिति-हीन

दिन कर-कुल में दिव्य जन्म पा, बढ़ कर नित तरुवर के सङ्ग,
मुरझे-पत्रों की साड़ी से ढंक कर अपने कोमल अङ्ग,
सदुपेशसुमनों से तरु के गूंथ हृदय का सुरभित-हार,
पर-सेवा-रत रहती हो तुम, हरती नित पथ-शान्ति अपार।
चूर्ण-शिथिलता-सी अंगड़ा कर होने दो अपने में लीन,
पर पीड़ा से पीड़ित होना मुझे सिखा दो, कर मद हीन।

सुख-दुःख

मैं नहीं चाहता चिर-सुख,
मैं नहीं चाहता चिर-दुख,
सुख-दुख की आँख मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख।

सुख-दुःख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरण;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।

जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव-जग में बट जावे,
दुख-सुख से औ सुख-दुख से।

अविरत दुख है उत्पीड़न,
अविरत सुख भी उत्पीड़न,
दुख-सुख की निशा-दिवा में;
सोता जगता जग-जीवन।

यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का;
चिर हास-अश्रु मय आनन
रे इस मानव-जीवन का !

तप रे मधुर-मधुर मन !

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व वेदना में तप प्रतिपल,
जग जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष उज्ज्वल, औ, कोमल
तप रे विधुर विधुर मन !
अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर मन !
तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन,
गंधहीन तू गंधयुक्त बन,
निज अरूप में भर स्वरूप, मन।
मूर्तिमान बन, निर्धन ।
गल रे गल - निष्ठुर मन !

स्व० श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान

झाँसी की रानी

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,
चमक उठी सन् सत्तावन में
वह तलवार पुरानी थी।
बुन्देले हर बोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥
वीर शिवाजी की गाथाएँ
उसको याद ज़बानी थीं।
बुन्देलों हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥
लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयं वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसको तलवारों के वार,
नकली युद्ध, व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना, दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार,

महाराष्ट्र-कुल-देवी उसकी
भी आराध्य भवानी थी ।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी ।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी ॥

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आई लक्ष्मी बाई झाँसी में,
राजमहल में बजी बधाई खुशियाँ छाई झाँसी में,
सुभट बुन्देलों की विरुदावलि–सी वह आई झाँसी में,
चित्रा ने अर्जुन को पाया,
शिव से मिली भवानी थी ।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी ।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी ॥

उदित हुआ सौभाग्य, मुदित महलों में उजियाली छाई,
किन्तु कालगति चुपके-चुपके काली घटा घेर लाई,
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भाईं,
रानी विधवा हुई हाय ! विधि को भी नहीं दया आई,
निःसन्तान मरे राजा जी
रानी शोक समानी थी ।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी ।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी ॥

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौजी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अच्छा अवसर पाया,
फ़ौरन फ़ौजें भेज दुर्ग पर अपना झण्डा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश राज्य झाँसी आया,
अश्रु पूर्ण रानी ने देखा
झाँसी हुई विरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

छिनी राजधानी देहली की लखनऊ छीना बातों-बात,
कैद पेशवा था बिठूर में, हुआ नागपुर का भी घात,
उदयपुर, तन्जौर, सतारा, करनाटक की कौन बिसात,
जबकि सिन्ध, पञ्जाब, ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात,
बङ्गाले, मद्रास आदि की
भी तो वही कहानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

यों परदे की इज्जत परदेशी
के हाथ बिकानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झांसी वाली रानी थी॥

कुटियों में थी विषम वेदना, महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकों के मन में था अपने पुरखों का अभिमान,
नाना धुन्धूपन्त पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहिन छबीली ने रण-चण्डी का कर दिया प्रकट आह्वान,
हुआ यज्ञ प्रारम्भ उन्हें तो
सोई ज्योति जगानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह ती
झाँसी वाली रानी थी॥

महलों ने दी आग, झोंपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आई थी,
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छाई थीं,
मेरठ, कानपूर, पटना ने भारी धूम मचाई थी,
जबलपुर, कोल्हापुर में भी
कुछ हलचल उकसानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

लेकिन आज जुर्म कहलाती
उनकी जो कुरबानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

इनकी गाथा छोड़ चले हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मैदानों में,
लेफ्टिनेण्ट वौकर आ पहुँचा, आगे बढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वन्द्व असमानों में,

जख्मी होकर वौकर भागा,
उसे अजब हैरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

रानी बढ़ी कालपी आई, कर सौ मील निरन्तर पार,
घोड़ा थककर गिरा भूमि पर, गया स्वर्ग तत्काल सिधार,
यमुना तट पर अंग्रेजों ने फिर खाई रानी से हार,
विजयी रानी आगे चलदी, किया ग्वालियर पर अधिकार,

अंग्रेजों के मित्र सेंधिया
ने छोड़ी राजधानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुँह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥

विजय मिली, पर अंग्रेजों की फिर सेना घिर आई थी,
अबके जनरल स्मिथ सम्मुख था, उसने मुँह की खाई थी,
काना और मन्दरा सखियाँ रानी के संग आई थीं,
युद्ध-क्षेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचाई थी,

पर पीछे ह्यूरोज आगया,
हाय ! घिरी अब रानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुंह,
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो,
झाँसी वाली रानी थी॥

तो भी रानी मार-काटकर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था वह संकट विषम अपार,
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने में आ गये सवार,
रानी एक, शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार-पर-वार,
घायल होकर गिरी सिंहनी
उसे वीर-गति पानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झांसी वाली रानी थी॥

रानी गई सिधार, चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हमको जीवित करने आई बन स्वतन्त्रता-नारी थी,
दिखा गई पथ सिखा गई
हमको जो सीख सिखानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झांसी वाली रानी थी॥

जाओ रानी, याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनासी,
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय, मिटा दे गोली से चाहे झाँसी,

तेरा स्मारक तू ही होगी
तू खुद अमिट निशानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झांसी वाली रानी थी॥

———

: २५ :

डा० रामकुमार वर्मा

किरण-कण

एक दीपक-किरण–कण हूँ।
धूम्र जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं,
नव-प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं,
सिद्धि पाकर भी तपस्या-साधना का ज्वलित क्षण हूँ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ।

व्योम के उर में अगाध भरा हुआ है जो अँधेरा,
और जिसने विश्व को दो बार क्या, सौ बार घेरा,
उस तिमिर का नाश करने के लिए मैं अखिल प्रण हूँ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ।

शलभ को अमरत्व देकर, प्रेम पर मरना सिखाया,
सूर्य का सन्देश लेकर, रात्रि के उर में समाया,
पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी तुम्हारी ही शरण हूँ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ।

निर्झर

अरे निर्जन वन के निर्मल निर्झर!
इस एकान्त प्रान्त-प्राँगण में

किसे सुनाते सुमधुर स्वर ?
अरे निर्जन वन के निर्मल निर्भर !

अपना ऊँचा स्थान त्यागकर,
क्यों करते हो अधःपतन ?

कौन तुम्हारा वह प्रेमी है,
जिसे खोजते हो वन-वन ?

विरह-व्यथा में अश्रु बहाकर,
जलमय कर डाला सब तन !

क्या धोने को चले स्वयं,
अविदित प्रेमी के पद-रज-कन ?

लघु पाषाणों के टुकड़े भी,
तुमको देते हैं ठोकर ?

क्षण भर ही विचलित होकर,
कम्पित होते हो गति खोकर।

लघु लहरों के कम्पित कर से,
करते उत्सुक आलिंगन

कौन तुम्हें पथ बतलाता है,
मौन खड़े हैं सब तरुगन ?

अविचल चल, जल का छल-छल
गिरि पर गिर-गिरकर कल-कल स्वर।

पल-पल में प्रेमी के मन में,
गूंजे ए कातर निर्भर !

ये गजरे तारों वाले

इस सोते संसार बीच,
जग कर सज कर रजनी बाले !

कहां बेचने ले जाती हो,
ये गजरे तारों वाले !

मोल करेगा कौन !
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी,

मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन में अपनी निधियां न्यारी !

निर्झर के निर्मल जल में,
ये गजरे झुला-झुला धोना ।

लहर-लहर कर यदि चूमे तो,
किंचित विचलित मत होना ।

होने दो प्रतिबिम्ब विचुम्बित,
लहरों ही में लहराना ।

'लो मेरे तारों के गजरे'
निर्झर स्वर में यह गाना ।

यदि प्रभात तक कोई आकर,
तुमसे हाय ! न मोल करे ।

तो फूलों पर ओस रूप में,
बिखरा देना सब गजरे ।

तारों के प्रति

सजीले नभ के राजकुमार,
सूक्ष्म रश्मियों की बूंदों का यह शैशव आकार।
नभ के विस्तृत जीवन में आशाओं का अवतार,
उतरो, अमर फूल में भर भर ओस बिन्दु का रूप।
दो दिन के जीवन में कर लूं तुमसे अपना प्यार,
सजीले नभ के राजकुमार,

कुहु निशा में अंधकार सागर का आया ज्वार।
खद्योतों में उड़ती थीं जब नव किरणें साकार,
मेरी बुझती आंखों में जब था आंसू का भार।
उन्हीं आंसुओं से आये थे ले अपना आकार,
सजीले नभ के राजकुमार।

———

: २६ :

श्री महादेवी वर्मा

अधिकार

वे मुस्कराते फूल, नहीं—
जिनको आता है मुरझाना,
वे तारों के दीप, नहीं—
जिनको आता है बुझ जाना।

वे नीलम के मेघ, नहीं—
जिनको है घुल जाने की चाह,
वह अनन्त ऋतुराज, नहीं—
जिसने देखी जाने की राह।

वे सूने से नयन, नहीं—
जिनमें बनते आंसू-मोती,
वह प्राणों की सेज, नहीं—
जिसमें बेसुध पीड़ा सोती।

ऐसा तेरा लोक, वेदना—
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं—
जिसने जाना मिटने का स्वाद।

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार।

संसार

निश्वासों की नीड़, निशा का बन जाता जब शयनागार,
लुट जाते अभिराम छिन्न मुक्तावलियों के बन्दनवार,
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आँसू से लिख लिख जाता है 'कितना अस्थिर है संसार !'
हँस देता जब प्रात, सुनहरे अञ्चल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब मचलीं पड़तीं किरणें भोली,
तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहती है 'कितना मादक है संसार,
देकर सौरभ दान पवन से कहते जब मुरझाये फूल,
'जिसके पथ में बिछे वही क्यों करता इन आंखों में धूल ?'
'अब इनमें क्या सार' मधुर जब गाती भौंरों की गुञ्जार,
मर्मर का रोदन कहता है 'कितना निष्ठुर है संसार !'
स्वर्ण वर्ण से दिन खिल जाता जब अपने जोवन की हार,
गोधूली, नभ के आँगन में देती अगणित दीपक वार,
हँस कर तब उस पार तिमिर का कहता बढ़ बढ़ पारावार,
'बीते युग, पर बना हुआ है अब तक मतवाला संसार,
स्वप्नलोक के फूलों से कर अपने जीवन का निर्माण,
'अमर हमारा राज्य' सोचते हैं जब मेरे पागल प्राण,
आकर तब अज्ञात देश से जाने किसकी मृदु झङ्कार,
गा जाती है करुण स्वरों में 'कितना पागल है संसार !'

मधुर मधुर मेरे दीपक जल !

मधुर मधुर मेरे दीपक जल !
युग युग, प्रतिदिन, प्रतिक्षण, प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर ।

सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम-सा घुलरे मृदु तन,
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल गल,
पुलक पुलक मेरे दीपक जल !

सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझ से ज्वाला-कण,
विश्व शलभ सिर धुन कहता 'मैं',
हाय न जल पाया तुझ में मिल ।
सिहर सिहर मेरे दीपक जल !

जलते नभ में देख असंख्यक,
स्नेहहीन नित कितने दीपक,
जलमय सागर का उर जलता,
विद्युत ले घिरता है बादल ।
विहँस विहँस मेरे दीपक जल !

द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयंगम,
बसुधा के जड़ अन्तर में भी,
बन्दी है तापों की हलचल ।
बिखर बिखर मेरे दीपक जल !

मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भयकर,
मैं अंचल की ओट किये हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चंचल ।
सहज सहज मेरे दीपक जल !

सीमा की लघुता का बंधन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन,
मैं दृग के अक्षय कोषों से,
तुम में भरती हूँ आँसू-जल।
सजल सजल मेरे दीपक जल!

तम असीम तेरा प्रकाश चिर,
खेलेंगे नव खेल निरन्तर,
तम के अणु अणु में विद्युत-सा
अमिट चित्र अङ्कित करता चल।
सरल सरल मेरे दीपक जल!

तू जल जल जितना होता क्षय,
वह समीप आता छलनामय,
मधुर मिलन में मिल जाता तू—
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल।
मदिर मदिर मेरे दीपक जल!
प्रियतम का पथ आलोकित कर।

सान्ध्य-गीत

जाने किस जीवन की ले
लहराती आती मधु-बयार!
रञ्जित कर दे यह शिथिल चरण, ले नव अशोक का अरुण राग,
मेरे मण्डन को आज मधुर ला रजनीगन्धा का पराग,
यूथी की मीलित कलियों से
अलि दे मेरी कबरी सँवार!
पाटल के सुरभित रङ्गों से, रँग दे हिम-सा उज्ज्वल दुकूल,
गुथ दे रसना में अलि-गुञ्जन से, पूरित झरते बकुल-फूल,

रजनी से अञ्जन माँग सजनि
दे मेरे अलसित नयन-सार !
तारक-लोचन से सींच-सींच नभ करता रज को विरज आज,
बरसाता पथ में हरसिंगार केशर से चर्चित सुमन-लाज,
कण्टकित रसालों पर उठता—
है पागल पिक मुझको पुकार !
लहराती आती मधु बयार ?

———

: २७ :

हरिवंशराय 'बच्चन'

आत्म-परिचय

मैं जग-जीवन का भार लिये फिरता हूँ,
फिर भी जीवन में प्यार लिये फिरता हूँ,
कर दिया किसी ने झंकृत जिनको छू कर,
मैं साँसों में दो तार लिये फिरता हूं!
मैं स्नेह-सुरा का पान किया करता हूँ,
मैं कभी न जग का ध्यान किया करता हूं,
जग पूछ रहा उनको, जो जग की गाते,
मैं अपने मन का गान किया करता हूं!
मैं निज उर के उद्गार लिये फिरता हूं,
मैं निज उर के उपहार लिये फिरता हूं,
है यह अपूर्ण संसार न मुझको भाता,
मैं स्वप्नों का संसार लिये फिरता हूँ!
मैं जला हृदय में अग्नि दहा करता हूं,
सुख-दुख दोनों में मग्न रहा करता हूँ!
जग भव-सागर तरने को नाव बनाये,
मैं मन मौजों पर मस्त बहा करता हूं!
मैं यौवन का उन्माद लिये फिरता हूँ,
उन्मादों में अवसाद लिये फिरता हूं,

जो मुझको बाहर हँसा, रुलाती भीतर,
मैं, हाय किसी की याद लिये फिरता हूं,

कर यत्न मिटे सब सत्य किसी ने जाना?
नादान वहीं हैं, हाय, जहाँ पर दाना!
फिर मूढ़ न क्या जग, जो इस पर भी सीखे,
मै सीख रहा हूं, सीखा ज्ञान भुलाना!

मैं और, और जग और कहाँ का नाता!
मैं बना-बना कितने जग रोज़ मिटाता!
जग जिस पृथ्वी पर जोड़ा करता वैभव,
मैं प्रति पग से उस पृथ्वी को ठुकराता!

मैं निज रोदन में राग लिये फिरता हूं,
शीतल वाणी में आग लिये फिरता हूं,
हों जिस पर भूपों के प्रासाद निछावर,
मैं वह खंडहर का भाग लिये फिरता हूं!

मैं रोया इसको तुम कहते हो गाना!
मैं फूट पड़ा, तुम कहते, छंद बनाना!
क्यों कवि कहकर संसार मुझे अपनाए?
मैं दुनियाँ का हूँ एक नया दीवाना!

मैं दीवानों का वेश लिये फिरता हूँ,
मैं मादकता निःशेष लिये फिरता हूँ!
जिसको सुनकर जग झूम, झुके, लहराए,
मैं मस्ती का संदेश लिये फिरता हूँ!

पग-ध्वनि

वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी !

नन्दन-वन में उगने वाली,
मेंहदी जिन तलवों की लाली,
बन कर भू पर आई आली !

मैं उन तलवों से चिर-परिचित,
मैं उन तलवों का चिर-ज्ञानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी !

ऊषा ले अपनी अरुणाई,
लेकर किरणों की चतुराई।
जिनमें जावक रचने आई,

मैं उन चरणों का चिर-प्रेमी,
मैं उन चरणों का चिर-ध्यानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी !

उन मृदु चरणों का चुंबन कर,
ऊसर भी हो उठता उर्वर।
तृण-कलि कुसुमों से जाता भर,

मरुथल मधुवन बन लहराते,
पाषाण पिघल होते पानी !
वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी !

उन चरणों की मंजुल उँगली,
पर नख-नक्षत्रों की अवली।
जीवन के पथ की ज्योति भली,

जिसका अवलंबन कर जग ने,
सुख-सुखमा की नगरी जानी !
वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी !
उन पद-पद्मों के प्रभ-रज-कण,
का अंजित कर मंत्रित अंजन,
खुलते कवि के चिर-अंध नयन,
तम से आकर उर से मिलती,
स्वप्नों की दुनिया की रानी !
वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी !
उन सुन्दर चरणों का अर्चन,
करते आँसू से सिंधु-नयन।
पग-रेखा में उच्छ्वास पवन,
देखा करता अंकित अपनी,
सौभाग्य सुरेखा कल्याणी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी !
उन चल चरणों की कल छुम-छुम,
से ही था निकला नाद प्रथम।
गति से मादक तालों का क्रम,
संगीत जिसे सारे जग ने,
अपने सुख की भाषा मानी !
वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी !
हो शांत जगत के कोलाहल !
रुक जा रे जीवन की हलचल !
मैं दूर पड़ा सुन लूँ दो पल।
संदेश नया जो लाई है,
यह चाल किसी की मस्तानी !

वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी !

किसके तम पूर्ण प्रहर भागे ?
किसके चिर सोये दिन जागे ?
सुख-स्वर्ग हुआ जिसके आगे ?

होगी किसके कंपित स्वर से,
इन शुभ चरणों की अगवानी ?
वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी !

बढ़ता जाता घुंघरू का रव !
यह जीवन का अनुभव अभिनव,

पग-चाप शीघ्र पग-राग तीव्र,
स्वागत को उठ रे कवि मानी ?
वह पग-ध्वनि मेरी पहचानी !

ध्वनि पास चली मेरे आती !
सब अंग शिथिल, पुलकित छाती !
लो गिरती पलकें मदमाती !

पग को परिरंभण करने की,
पर इन भुज-पाशों ने ठानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी !

रव गूंजा भू पर, अंबर में,
सर में, सरिता में, सागर में।
प्रत्येक श्वास में, प्रति स्वर में,

किस किस का आश्रय ले फैले,
मेरे हाथों की हैरानी !

वे ढूंढ़ रहे ध्वनि का उद्गम ।

मंजीर मुखरयुत पद निर्मल,
है ठौर सभी जिनकी ध्वनि सम।
इनको पाने का यत्न वृथा,
श्रम करना केवल नादानी।
वह पग ध्वनि मेरी पहिचानी!
ये कर नभ जल थल में भटके,
आकर मेरे उर पर अटके।
जो पग द्वय थे अंदर घर के।
ये ढूंढ़ रहे उनको बाहर,
ये युग कर मेरे अज्ञानी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी!
उर के ही मधुर अभाव चरण,
बन करते स्मृति-पट पर नर्तन,
मुखरित होता रहता वन वन।
मैं ही इन चरणों में नूपुर,
नूपुर-ध्वनि मेरी ही वाणी।
वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी!

: २८ :

जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द

क्रांतिकारी

(१)

पाया था हमने भी मानव-उर कोमल ।
नीड़ों में जैसे पक्षी हैं बस जाते,
उनकी सीमा में अपने शिशु दुलराते,
वैसे ही हम थे अपनी कुटी बसाते,
नंदन-वन-सा सुख हम भी उसमें पाते,
बरसाते उसमें स्नेह हृदय का निश्छल ।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल ।

(२)

हमने भी आहों का बंधन पहचाना,
आंसू को अपना परिचित हमने जाना,
मुसकानों पर सीखा सर्वस्व लुटाना,
आशा–इंगित पर स्वप्न भवन बनवाना,
सुख में दुःख में हम भी थे मानव-केवल ।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल ।

(३)

क्षण में न हमारा बदल सका जीवन,
क्षण में न हुआ हममें इतना परिवर्तन,

हम भी अपना रखते इतिहास सुविस्तृत,
हम भी रखते अपना विकास क्रम-आगत।
है एक कहानी इस जीवन का प्रतिपल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

(४)

बन गया हृदय ही अपना शत्रु हमारा;
सह सका न वह, दुखियों की आंसू-धारा।
नंगे-भूखों को देख तड़पते रोते,
अपने श्रम का फल निरपराध सब खोते,
हो उठा हमारा भावुक अंतर चंचल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

(५)

युग-युग की पीड़ित मानवता के मन की—
अवरुद्ध आह संचित सारे जीवन की,
हम में ममत्व का पाकर एक सहारा,
थी फूट पड़ी बन निश्चय उग्र हमारा,
हम निकल पड़े ले प्रबल प्रेरणा का बल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

(६)

कितना दुर्गम, कितना विस्तृत वह पथ था!
'इति' ज्ञान नहीं था, जाना केवल अथ था!
हमने प्राणों पर खेल किया निश्चय था;
इसलिए मरण का हमें न कोई भय था।
स्वातंत्र्य साम्य के मद में थे हम पागल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

(७)

हम एक नये जीवन-प्रभात में जागे;
अपने सुख-दुख को कुचल बढ़े हम आगे।
अपने यौवन में आग लगाना सीखे।
अपनी हस्ती को स्वयं मिटाना सीखे।
था सर्वनाश ही बना पंथ का संबल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

(८)

कितने कटु अनुभव पद-पद पर होते थे;
कितने साथी जीवन अपना खोते थे;
विश्वासघात कितने करते अपना बन;
कितने करते थे आमिष पर आत्मार्पण।
जीवन में प्रतिपल रहती अद्भुत हल-चल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

(९)

प्रतिपल सम्मुख रहती थी मृत्यु हमारे,
शंकित फिरते हम बन-बन मारे-मारे।
फिर भी न शिथिल उत्साह कभी भी होता;
मन भीषण संकट में भी धैर्य न खोता।
हिमगिरि से सीखा उसने रहना अविचल।
पाया था हमने भी मानव उर कोमल।

(१०)

'मरने वालो' तुम मरो, तुम्हें है मरना;
हम जीते तो हैं, और हमें क्या करना!
यह उदासीनता देखी उस जन-गण की,
हम मुक्ति चाहते थे जिसके जीवन की,

हम सह यह भी आघात दिये आगे चल।
पाया था हमने भी मानव उर कोमल।

(११)

घर की सुध क्या हमको न कभी आती थी?
क्या भूख, प्यास, निद्रा न सता पाती थी?
था किंतु गुलामी का संकट भीषणतर;
था सहना जिसका कठिन किसी कीमत पर।
कष्टों से हमने भरा खुशी से अंचल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

(१२)

राखी आयी पर रही कलाई सूनी,
विजय पर व्यथा विफलता की दूनी।
दीपावलि आई, होली का दिन आया,
पर जीवन में हमने उल्लास न पाया।
बीते कितने मधुमास, न कूकी कोयल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

(१३)

थोड़े थे साथी, सीमित सब साधन थे,
प्रतिकूल परिस्थिति, पद-पद पर बंधन थे।
हम महा शक्तियों को चुनौतियाँ देकर,
थे नई व्यवस्था चाह रहे इस भू पर।
सिर पर विपदा के छाये कितने बादल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

(१४)

फिर भी, उसका कुछ किया प्रदर्शन हमने,
जिस तीव्र व्यथा का पाया दर्शन हमने।

जिसमें मानवता घुट-घुट कर मरती थी;
जिसको शोषण में मूक सहन करती थी।
संदेश सुनाया बहरे जग को अविरल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

(१५)

पर, इतने श्रम के बाद बात यह जानी—
था विफल यत्न वह भ्रान्त व्यर्थ कुरबानी।
पर नये सिरे से नये मार्ग पर चलना,
जीवन प्रदीप को है तिल-तिल कर जलना।
पथ बदल गया, पर लक्ष्य वही है उज्ज्वल।
पाया था हमने भी मानव उर कोमल।

(१६)

गुमराह कहें चाहे फिर हमको ज्ञानी,
ठुकरावें हमको आत्म-तत्व-अभिमानी,
सर आँखों पर है उन सबकी मनमानी
कहते हम इतना नयनों में भर पानी—
रखते हैं हम भी एक हृदय लघु, निर्मल।
पाया था हमने भी मानव-उर कोमल।

—:०:—

: २६ :

हरिकृष्ण 'प्रेमी'

अनन्त के पथ पर

निशि सन्ध्या-पट के पीछे
सुलझाती अलकें काली।
उनको फैलाती आती
बुनती-सी 'तम' की जाली ?

अलकों के कुसमों से हो
खिलते हैं नभ के तारे।
क्या चमक उठे जीवन के
गत सपने सारे प्यारे ?

स्वर्गङ्गा की धारा में,
स्मृति के दीपक हैं बहते,
किस मधुर लोक की गाथा
मेरे मानस से कहते ?

इस रत्न-जटित अम्बर को
किसने वसुधा पर छाया ?
करुणा की किरणें चमका,
क्यों अपना रूप छिपाया ?

यह हृदय न जाने किसकी
सुधि में बेसुध हो जाता ?

छिप-छिप कर कौन हृदय की
वीणा के तार बजाता ?
क्या जाने नीरव नभ से
किसका आमन्त्रण आता ?
उर लक्ष्य-हीन पक्षी-सा
किस ओर उड़ा-सा जाता ?

इस 'महाशून्य' में किसका
मैं अनुभव कर मुसकाती ?
मैं अपने ही कलरव को
क्यों नहीं समझने पाती ?

नभ के पर्दे के पीछे
करता है कौन 'इशारे'
सहसा किसने जीवन के
खोले हैं बन्धन सारे ?

रुक सकी न इस कुटिया में,
रह सकी न मैं मन मारे।
हो अब प्रवाह ही जीवन,
छूटे सब कूल-किनारे।

जग के सुख-दुख से मेरा
अब टूट चुका है नाता
पर, समझ नहीं पाई हूं
है मुझको कौन बुलाता ?

बंधन-मुक्त

खोलती हूँ पिंजरे का द्वार !
उड़ो अम्बर में विहग-कुमार !!

गहन तम का यह काला कोट
सुनहरी किरणों की खा चोट,
भूमि पर अभी जायगा लोट,

तुम्हें होगा तुम पर अधिकार !
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार !!

अश्रु-निर्झरिणी में कर स्नान,
तुम्हारा विहगी धरती ध्यान !
स्वजन-गण गाते स्वागत-गान !

मिलो जाकर उनसे सुकुमार !
खोलती हूं पिंजरे का द्वार !

बन्द कर प्राणों का संगीत,
भुलाकर मादक मधुर अतीत,
मौन से, सूनेपन से प्रीति,

पालकर रहते क्यों मन मार ?
खोलती हूं पिंजरे का द्वार !!

कुसुम-दल के गालों को चूम,
प्यार की प्याली पी-पी झूम,
गगन, वन, कुंज-कुंज में घूम,

करो जग में स्वच्छन्द विहार !
खोलती हूं पिंजरे का द्वार !!

तुम्हारा चन्द्र, सूर्य, आकाश
तुम्हारी सन्ध्या, उषा, प्रकाश,
निशा, दिन, उपवन, वन, वन मधुमास,

करो शासन, ए राजकुमार !
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार !

———

: ३० :

पं० श्यामनारायण पांडेय

राणा प्रताप की तलवार

चढ़ चेतक पर, तलवार उठा,
रखता था भूतल पानी को।
राणा प्रताप सिर काट काट,
करता था सफल जवानी को ॥ १ ॥

कलकल बहती थी रणगङ्गा,
अरिदल को डूब नहाने को।
तलवार वीर की नाव बनी,
चटपट उस पार लगाने को ॥ २ ॥

वैरिदल को ललकार गिरी,
वह नागिन सी फुफकार गिरी।
था शोर मौत से बचो बचो,
'तलवार गिरी, तलवार गिरी' ॥ ३ ॥

पैदल, हयदल, गजदल में,
छप छप करती वह निकल गई।
क्षण कहां गई कुछ पता न फिर,
देखो चम-चम वह निकल गई ॥ ४ ॥

क्षण इधर गई क्षण उधर गई,
क्षण चढ़ी बाढ़-सी उतर गई।
था प्रलय चमकती जिधर गई,
क्षण शोर हो गया किधर गई ॥ ५ ॥

लहराती सिर काट काट,
बलखाती थी भू पाट पाट।
बिखराती अवयव बाट-बाट,
तनती थी लोहू चाट-चाट ।। ६ ।।

क्षण भीषण हलचल मचा मचा,
राणा, कर की तलवार बढ़ी।
था शोर रक्त पीने को यह,
रण-चंडी जीभ पसार बढ़ी ।। ७ ।।

पूजन

थाल सजाकर किसे पूजने,
चले प्रात: ही मतवाले ?
कहाँ चले तुम राम नाम का,
पीतांबर तन पर डाले ?

कहाँ चले ले चंदन, अक्षत, बगल दबाये मृगछाला ?
कहाँ चली यह सजी आरती, कहाँ चली जूही – माला ?
ले मौंजी, उपवीत, मेखला, कहाँ चले तुम दीवाने ?
जल से भरा कमंडलु लेकर, किसे चले तुम नहलाने ?
चले झूमते मस्ती से तुम, क्या अपना पथ आये भूल ?
कहाँ तुम्हारा दीप जलेगा, कहाँ चढ़ेगा माला – फूल ?
इधर प्रयाग न गंगा - सागर, इधर न रामेश्वर, काशी ?
कहाँ, किधर है तीर्थ तुम्हारा, कहाँ चले तुम सन्यासी ?
मुझे न जाना गंगा - सागर, मुझे न रामेश्वर काशी।
तीर्थराज चित्तौड़ देखने, को मेरी आँखें प्यासी।
अपने अचल स्वतंत्र दुर्ग पर, सुनकर बैरी की बोली।
निकल पड़ी लेकर तलवारें, जहाँ जवानों की टोली।

जहाँ आन पर मा - बहनों की , जला - जला पावन होली ,
वीर - मंडली गर्वित स्वर से , जय मा की जय - जय बोली ।
सुदंरियों ने जहां देश-हित, जौहर व्रत करना सीखा ।
स्वतंत्रता के लिये जहां के बच्चों ने मरना सीखा ।
वहीं जा रहा पूजन करने, लेने सतियों की पद-धूल ।
वहीं हमारा दीप जलेगा, वहीं चढ़ेगा माला-फूल ।
वहीं मिलेगी शांति, वहीं पर, स्वस्थ हमारा मन होगा ।
वीरवरों की पूजा होगी, तलवारों का दर्शन होगा ।
जहां पद्मिनी जौहर व्रत कर, चढ़ी चिता की ज्वाला पर ।
क्षण भर वहीं समाधि लगेगी, बैठ इसी मृगछाला पर ।
नहीं रही, पर चिता भस्म तो, होगा ही उस रानी का ।
पड़ा कहीं न कहीं होगा ही, चरण चिन्ह महाराणी का ।
उस पर ही ये पूजा के सामान सभी अर्पण होंगे ।
चिता-भस्म-कण ही रानी के, दर्शन हित दर्पण होंगे ।

———

: ३१ :

रामधारीसिंह 'दिनकर'

बापू

संसार पूजता जिन्हें तिलक रोली के हारों से।
मैं उन्हें पूजता आया हूँ, बापू! अब तक अंगारों से॥
अंगार हार उनका, जिनकी सुन हांक समय रुक जाता है।
आदेश जिधर का देते हैं, इतिहास उधर झुक जाता है॥
तू सहज शान्ति का दूत, मनुज के सहज प्रेम का अधिकारी।
दृग में उंडेल कर सहज शील, देखती तुझे दुनिया सारी॥
धरती की छाती से अजस्र, चिर-संचित क्षीर उमड़ता है।
आँखों में भरकर सुधा तुझे, यह अंबर देखा करता है॥
इतिहास आँकता है गाथा, था भरत भूमि का एक भाग।
संयोग अकारण, वहाँ कभी फुङ्कार उठे विकराल नाग॥
विष की ज्वाला से दह्यमान हो उठा व्यग्र सारा खगोल।
मतवाले नाग अशंक चले खोले जिह्वाएँ लोल लोल॥
हंसों के नीड़ लगे जलने हंसों की गिरने लगी लाश।
नर नहीं, नारियों से होली खेलने लगा खुल सर्वनाश॥
नारी का शील गिरा खण्डित कौमार्य गिरा लोहू लुहान।
भगवान् भानु जल उठे क्रुद्ध, चिंघाड़ उठा यह आसमान॥
पर, हिली नहीं कुरु की परिषद्, पर हिले नहीं पाण्डव सभीत।
ललकार कौंधकर चली गई रह गये सोचते धर्मनीति॥
बापू तू कलि का कृष्ण विकल, आया आँखों में नीर लिये।
थी लाज द्रौपदी की जाती, केशव-सा दौड़ा चीर लिये॥

तू कालोदधि का महास्तंभ, आत्मा के नभ का तुङ्ग केतु।
बापू ! तू मर्त्य, अमर्त्य, स्वर्ग, पृथ्वी, भू नभ का महा सेतु॥
तेरा विराट यह रूप कल्पना-पट पर नहीं समाता है।
जितना कुछ कहूँ मगर, कहने को शेष बहुत रह जाता है॥
लज्जित मेरे अंगार; तिलक माला भी यदि ले आऊं मैं।
किस भाँति उठूँ इतना ऊपर ? मस्तक कैसे छू पाऊँ मैं॥
ग्रीवा तक हाथ न जा सकते, उँगलियाँ न छू सकतीं ललाट।
वामन की पूजा किस प्रकार, पहुँचे तुम तक मानव विराट॥

हिमालय

मेरे नग-पति ! मेरे विशाल !
साकार दिव्य गौरव विराट !
पौरुष के पुन्जीभूत ज्वाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
मेरे नग-पति ! मेरे विशाल !

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त !
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान !
निस्सीम व्योम में तान रहे,
युग से किस महिमा का वितान ?
कैसी अखंड यह चिर-समाधि ?
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ?
तू महाशून्य में खोज रहा,
किस जटिल समस्या का निदान ?
उलझन का कैसा विषम जाल ?
मेरे नग-पति ! मेरे विशाल !

ओ मौन तपस्या-लीन-यती !
पल भर तो कर नयनोन्मेष !
रे ! ज्वालाओं से दग्ध, विकल !
है तड़प रहा पद पर स्वदेश !
सुख-सिन्धु, पञ्चनद, ब्रह्मपुत्र
गंगा-यमुना की अमिय-धार

जिस पुण्य-भूमि की ओर बही ।
तेरी विगलित करुणा उदार ।
जिसके द्वारों पर खड़े क्रान्त
सीमा-पति ! तूने की पुकार—
पद-दलित इसे करना पीछे
पहिले ले मेरा सिर उतार ।
उस पुण्य-भूमि पर आज तपी
रे ! आन पड़ा संकट कराल,
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
डस रहे चतुर्दिक विविध व्याल ।

मेरे नग-पति ! मेरे विशाल !
कितनी मणियाँ लुट गईं, मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष !
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश !
कितनी द्रुपदा के बाल खुले,
कितनी कलियों का अन्त हुआ;
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिल-ज्वाल बसन्त हुआ !
पूछो सिकता-कण से हिम-पति !

तेरा वह राज-स्थान कहाँ ?
वन-वन स्वतन्त्रता-दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ ?
तू पूछ अवध से, राम कहाँ ?
वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बल-धाम कहाँ
पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूछ, कहाँ उसने खोई
अपनी अनन्त निधियाँ सारी ?
री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव—
के वे मंगल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान, चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ ?
वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ ?
तू तरुण देश से पूछ अरे !
गूँजा यह कैसा ध्वंस-राग ?
अम्बुधि-अंतस्तल बीच छिपी
यह सुलग रही है कौन आग ?
प्राची के प्राङ्गण-बीच देख
जल रहा स्वर्ण-युग-अग्नि-ज्वाल
तू सिंहनाद कर जाग यती !

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
रे ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ,
जाने दे उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गाण्डीव, गदा,
लौटा दे अर्जुन, भीम वीर !
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार;
सारे भारत में गूँज उठे
'हर हर-बम' का फिर महोच्चार !
ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद,
तू शैल-राट ! हुङ्कार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद !
तू मौन त्याग, कर सिंह-नाद
रे तपी ! आज तप का न काल,
नवयुग शंख-ध्वनि बजा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल !
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य-भाल !
जागो नग-पति ! जागो विशाल !

— — — —

: ३२ :

पं० सोहनलाल द्विवेदी

पथ-गीत

जय जय जय
बढ़ो अभय
तोड़ दुर्ग गिरें दीवारें
ढहें शृंग टूटें मीनारें
मचे प्रलय
बढ़ो अभय
जय जय जय
फूंको शंख ध्वजाएं फहरें
चले कोटि सेना घन घहरे
अग्नि निलय
बढ़ो अभय
जय जय जय
अमर सत्य के थर-थर
काँपे विश्व काँपे विश्वम्भर
हे दुर्जय
बढ़ो अभय
जय जय जय
युग-युग दलित प्रजा के क्रंदन
अब न सहे जाते थे बंधन
मचे प्रलय

मृत्युंजय

बढ़ो अभय
जय जय जय
बलि पर बलि ले चलो निरन्तर
हो प्राची में आज युगान्तर
उगे उदय
राष्ट्र विजय
बढ़ो अभय
जय जय जय
कोटि कोटि नित नित कर माथा
गावें जन-गण तेरी गाथा
तुम अक्षय
तुम दुर्जय
तुम निर्भय
जय जय जय

तुलसीदास

जब मुगल महीपों के बादल,
छाए जीवन-नभ में अपार।
दासता, पराजय, गृह-विग्रह,
से गहराया तम का प्रसार।

तुम राम-नाम रसनामृत ले,
आए गौरव गाते अमन्द्र।
मृत-हत जनता को मिले प्राण,
चमके तुम बन सौभाग्य चन्द्र।

हिन्दू-कुल का यह महापोत,
जब जग-जलनिधि में था अधीर।
तुम बने अचल आकाशदीप,
दिखलाया प्रतिपल सुगम तीर।
अन्धड़ वैभव के उठे घोर,
लहरें विलास की उठीं रोर।
तब सुदृढ़ पाल बन लोकपाल,
तुम ले आए निज धर्म ओर।
तुलसी यदि तुम आते न यहाँ,
हम ढोया करते धरा धाम।
वैभव विलास में मर मिटते,
सूझता हमें कब सत्य काम।
निर्गुण निरीह के घन तम में,
भटका करते हम बार बार।
यदि सगुण रूप की दिव्य ज्योति,
देते न मधुरतम तुम पसार।
गाते यदुपति के रासगीत,
आए थे प्रेमी सूरदास।
जर्जरित धमनियों में हमने,
पाया नव यौवन का विलास।
पर वह पौरुष वह बल-विक्रम,
जिससे जय मिलती अनायास।
दी शक्ति तुम्हीं ने शक्ति मूर्ति,
तब उठे पुनः हम गिरे दास।

वाल्मीकि के पुनर्जन्म,
क्या नगर नगर क्या ग्राम ग्राम।
बज रही भक्ति की मधुर बीन,
क्या भवन-भवन क्या धाम-धाम।
आबाल वृद्ध नारी नर में,
क्या प्रात-प्रात क्या शाम-शाम।
तुलसी तुम गूँज रहे रह रह,
गृह-गृह में बन कर राम नाम!
गुरु बोल उठे श्री राम नाम,
तुम बोल उठे श्री राम राम।
गङ्गा की लहरों लहरों में,
हिल्लोल उठे श्री राम नाम।
जन-जन में मन-मन में क्षण-क्षण,
कल्लोल उठे श्री राम नाम।
जब उठी तुम्हारी अन्तर ध्वनि,
तब बोल उठे वे स्वयं राम!

कवि - परिचय

कबीर

आत्म-विरक्ति-परक भावनाओं की प्रधानता के कारण हिन्दी के सन्त कवियों ने अपने सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का उल्लेख करने की आवश्यकता का अनुभव न किया। सन्त कबीर भी इसके अपवाद नहीं थे और यही कारण है कि उनका काल-निर्णय करते समय धारणाओं का आधार लेना पड़ता है। तथापि जन-श्रुति के अनुसार उनका जन्म-काल संवत् १४५६ सर्वमान्य है।

इनके जन्म के विषय में यह प्रसिद्ध है कि स्वामी रामानन्द जी ने भ्रम से काशी की एक विधवा स्त्री को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था। कहा जाता है कि आशीर्वाद के बल से उस स्त्री के एक पुत्र-रत्न का जन्म हुआ। लोकापवाद के भय से वह उस बालक को एक तालाब के पास छोड़ आई। संयोगवश नीरू-नीमा नामक जुलाहा दम्पति उस बालक को वहाँ से उठाकर ले गये। सन्तानहीन होने के कारण उन्होंने बालक का पुत्रवत् पालन-पोषण किया। इस जन-श्रुति के आधार पर इनकी जाति के विषय में मत भेद है। कुछ लोग इन्हें हिन्दू मानते हैं और कुछ मुसलमान। स्वामी रामानन्द इनके गुरु थे।

इनका विवाह लोई नामक स्त्री से हुआ था जिससे इनके एक पुत्र भी हुआ। पुत्र का नाम कमाल था। इसका इन्होंने स्वयं उल्लेख किया है—'बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।'

इनका मृत्यु काल संवत् १५७५ माना जाता है।

तन्तुकार के गृह में पोषित होने के कारण सन्त कबीर की भावनाएँ प्रारम्भ से ही सारल्य लिये हुए थीं। काल प्राप्त होते ही उनकी विचार-धारा चतुर्मुखी हो उठी। अपने युग की विषमताओं से प्रभावित होकर उन्होंने उनके विरुद्ध एक क्रांतिकारी आन्दोलन का सृजन किया। साम्प्रदायिकता, कट्टरता, प्रचलित रूढ़िवाद एवं भीरु-भावनाओं का उन्होंने खुल कर विरोध किया। मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन आदि को व्यर्थ का आडम्बर मान कर उन्होंने सगुण-मतवाद का विरोध कर उसके स्थान पर निर्गुण-विचारधारा का सफलता-पूर्ण प्रतिपादन किया। तात्कालीन जनता में आत्म-विश्वास एवं विश्व-बन्धुत्व की भावनाओं का संचार करना ही उनका प्रथम तथा सर्वप्रधान लक्ष्य था।

सन्त कबीर पारलौकिक मोक्ष की प्राप्ति में संलग्न थे। यही कारण है कि मार्ग में बाधाएँ उपस्थित करने वाली माया की उन्होंने सर्वत्र निन्दा की। सत्य, प्रतिभा और उमंग के सम्मिश्रण के फलस्वरूप कबीर का काव्य एक अपूर्व तन्मयता का क्रीड़ोद्यान हो गया है। अपनी बोली को इन्होंने 'पूर्वी' बतलाया है तथापि उसमें पंजाबी, अवधी, ब्रज, खड़ी, बिहारी, राजस्थानी, फ़ारसी और अरबी के शब्दों का भी मधुर सम्मिश्रण है। इन्होंने साखी, पद और रमैणी शैलियों का प्रयोग किया है जिनमें से साखी सर्वश्रेष्ठ हैं। 'बीजक' में इनकी समस्त रचनाएं संगृहीत हैं। 'आडम्बर-शून्य एवं भावुकता पूर्ण तथ्य का प्रतिष्ठान ही कला है' और इस दृष्टि से कबीर सच्चे कलाकार हैं।

जायसी

समग्र सृष्टि को प्रेम के मधुर प्रवाह में आप्लावित कर देने वाले महाकवि जायसी अवध-प्रांत के जायस ग्राम के निवासी थे। ये

प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी के शिष्य थे । इनके जन्मकाल के विषय में ठीक पता नहीं चलता। आखिरी कलाम में इन्होंने स्वयं लिखा है—'भा अवतार मोर नौ सदी।' इस पंक्ति के आधार पर इनका जन्मकाल ९०० हिजरी माना जा सकता है। इनके मृत्युकाल के विषय में भी कुछ पता नहीं चलता। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये शेरशाह के समय में संवत् १५९७ के लगभग विद्यमान थे।

एक नेत्र से विहीन होने के कारण इनका रूप कुछ विकृत हो गया था परन्तु संसार में रूप की अपेक्षा गुण को अधिक महत्व दिया जाता है, और पद्मावत, अखरावट तथा आखिरी कलाम के इस रचयिता में गुणों का कोई अभाव न था। पद्मावत के क्रोड़ में मानव-जाति के कल्याण का जो महान् सन्देश निहित है, वह इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

'पद्मावत' में नायक रत्नसेन और नायिका पद्मावती की प्रेम-कथा का वर्णन किया गया है। इस काव्य-ग्रन्थ में फ़ारसी की मसनवियों के एकान्तिक एवं लोक-बाह्य प्रेम के साथ-साथ भारतीयों के लोक-संबद्ध एवं व्यवहारात्मक प्रेम का भी अच्छा वर्णन हुआ है। कवि ने अनेक स्थलों पर लौकिक प्रेम में ईश्वरीय प्रेम की व्यंजना करने की चेष्टा की है परन्तु औचित्य-अनौचित्य का ज्ञान न रहने के कारण वह इसमें पूर्णतः सफल न हो सका है।

जायसी की भाषा अवधी है। उनकी शैली अत्यन्त प्रवाह-पूर्ण तथा स्वाभाविक है। शब्दों के चयन में उन्होंने व्यवहारिकता का बहुत ध्यान रखा है। उनके वर्णनों में नागमती का वियोग-वर्णन सर्वाधिक मार्मिकता लिये हुए है। इसके अन्तर में गाम्भीर्य के उस

द्रवणकारी स्रोत का वास है जो पाषाण से पाषाण हृदय को भी विचलित कर देने में समर्थ है। प्रेम की इस अनन्यता के कारण जायसी का काव्य अनन्त काल तक जिज्ञासुओं को तृप्ति प्रदान करता रहेगा।

सूरदास

अष्टछाप के अन्यतम कवि भक्त-प्रवर सूरदास का जन्म ज़िला मथुरा के रुनकता नामक ग्राम में संवत् १५४० में हुआ था।

महाप्रभु वल्लभाचार्य जी के आदेश से इन्होंने श्रीमद्भागवत का पद्यानुवाद किया जिसका नाम सूरसागर है। कहा जाता है कि इसमें सवा लाख पद थे, किन्तु इस समय केवल पांच हज़ार के लग भग पद ही उपलब्ध हैं।

नेत्र-हीन होते हुए भी इन्होंने हिन्दी-साहित्य के उद्यान को जिन कमनीय मान-कुसुओं से अलंकृत किया उनके लिये हिन्दी-जगत् इनका चिर-कृतज्ञ रहेगा।

महाकवि सूरदास वात्सल्य एवं शृंगार के कवि थे। 'सूरसागर' में उन्होंने लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की विभिन्न जीवन-घटनाओं को अत्यन्त सफलता-पूर्वक एक स्थान पर एकत्रित कर दिया है। उनके कृष्ण का बाल-रूप नयनों को असीम सौख्य प्रदान करने वाला तथा विषाद-सिक्त हृदय को पुनः अनुरंजित कर देने वाला है। यौवन-काल की कृष्ण-लीलाओं में जिस मादकता का वास है उसका भी उन्होंने अत्यन्त मनोमुग्धकारी वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रिय के साहचर्य में गोपियों को जिस सुख की अनुभूति होती थी वही प्रिय के प्रवास पर विरह के तीव्र ताप में परिणित हो गई। उस समय के वर्णनों में सूर ने मानो अपना हृदय ही ढाल कर रख दिया है।

सूरदास जी की भक्ति दास्य-भाव की न हो कर सख्य-भाव की है। शैशव एवं यौवन के चित्रों की भांति ही वे जरावस्था के चित्र प्रस्तुत करने में भी वे अत्यन्त सफल हुए हैं। उस समय हृदय में जिस विषम-भावना का उद्रेक होता है, उसका उन्होंने पूर्ण चित्रण किया है। उनके काव्य के मनन के अनन्तर हृदय में जिस वेदना एवं सहानुभूति का उदय होता है, वह निश्चय ही साधारणीकरण का फल है। पाठक और पाठ्य के मध्य इसी तादातम्य को स्थापित करने के कारण महाकवि सूरदास हिन्दी-कलाकारों के मध्य शीर्ष-स्थान पर अवस्थित हैं। इनके विषय में यह उक्तियां लोक-प्रचलित हैं:

सूर सूर तुलसी शशि, उडुगन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहं तहं करत प्रकास॥

× × ×

उत्तम पद कवि गंग को, कविता कों बलबीर।
केशव अर्थ गँभीर को, सूर तीन गुन धीर॥

× × ×

तत्व तत्व सूरा कही, तुलसी कही अनूठि।
बची-खुची कबिरा कही, और कही सब झूठि॥

× × ×

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, तन मन धुनत सरीर॥

× × ×

सूरदास बिन पद रचना अब कौन कविहिं कर आवै।
सूर-कवित सुन कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै?

× × ×

पारासोल ग्राम में संवत् १६२० के लग-भग ये परलोक सिधार गए। इनके अन्तकाल के सम्बन्ध में भारतेन्दु जी ने कहा है:

मन समुद्र भो सूर को, सीप भये चख ला।
हरि-मुक्ताहल परत ही, मूँदि गये तत्काल॥

सूरसागर, साहित्य-लहरी और सर-सारावली इनकी प्रसिद्ध रचनाएं हैं।

गोस्वामी तुलसीदास

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जी के अनन्य भक्त एवं विश्व के समस्त पीड़ित जनों को अविलम्ब शांति प्रदान करने में समर्थ गोस्वामी तुलसीदास जी का जन्म हिन्दी-साहित्य के लिये निश्चय ही एक सौभाग्य की सूचना थी। हिन्दी के इस परम-हितैषी कलाकार का जन्म संवत १५५४ में युक्त-प्रांत के बांदा जिले में राजापुर ग्राम में हुआ था। ये सरयूपारीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम आत्माराम और माता का नाम हुलसी था। मूल नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण इनके माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था। इसका उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—'मातु पिता जग जाइ तज्यो बिधिहू न लख्यो कुछ भाल भलाई।' अपनी स्त्री से अत्यधिक प्रेम करते थे। इनकी विरक्ति के सम्बन्ध में यह जनश्रुति प्रचलित है कि एक बार इनकी स्त्री इनकी अनुपस्थिति में मायके चली गई। जब उन्हें पता चला तो वे बढ़ी नदी को पार कर उसके पास जा पहुँचे। स्त्री ने उस

समय ये शब्द कहे:

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि चर्ममय देह मम ता में ऐसी प्रीति।
तैसी जौ श्रीराम महँ होति न तौ भवभीत॥

यह बात गोस्वामी जी को ऐसी लगी वे तुरन्त विरक्त हो गए। इनकी मृत्यु संवत् १६८० में हुई।

संवत सोलह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

परन्तु यह केवल उनके पार्थिव शरीर का ही अन्त था, उनकी आत्मा का वास तो युग-युग तक प्रत्येक जन के अन्तर में रहेगा। रामचरितमानस गोस्वामी जी की अमर रचना है। इसके अतिरिक्त विनय-पत्रिका, दोहावली, गीतावली, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, रामाज्ञा, बरवै रामायण, कृष्ण गीतावली आदि इनके अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

गोस्वामी तुलसीदास के राम-भक्ति सम्बन्धी ग्रन्थों में 'रामचरित मानस' तथा 'विनय-पत्रिका' का विशेष स्थान है। 'मानस' में कवि ने अपने जीवन की समस्त अनुभूतियों को, अपने हृदय के समस्त रस-प्रवाह को एक साथ ही उँडेल दिया है। सात्विक भावों का उत्थान कर चरित्र को उच्चादर्श पर स्थापित करने में समर्थ होने के कारण इस महाकाव्य का भारतवर्षीय जनता में विशेष आदर है। इसके अध्ययन के पश्चात् हृदय में शील, शांति एवं सन्तोष के जिन भावों का संचार होता है, वे वास्तव में स्पृहणीय हैं।

'विनयपत्रिका' में कवि के दैन्य भाव का पूर्ण स्फुरण हुआ है। राम की आराधना में लीन उसने भौतिक जगत् के अपने समस्त सम्बन्धों का त्याग कर दिया है। भक्ति और ज्ञान का इतना सुन्दर समन्वय हिन्दी-साहित्य के अन्य किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। 'मानस' एवं 'पत्रिका' में जिन श्रेय-भावनाओं को स्थान प्राप्त हुआ है, वे वास्तव में अत्यन्त महान् हैं। जनता के जीवन की शाश्वत अनुभूतियों का अङ्कण करने के कारण गोस्वामी तुलसीदास का महत्व चिर-काल तक प्रतिष्ठित रहेगा।

मीराबाई

मध्य युगीन कवियित्री मीरा का जन्म संवत् १५६० में चौकड़ी नामक ग्राम में मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह के यहां हुआ था तथा मृत्यु संवत् १६३० में हुई। अकाल वैधव्य से पीड़ित होने पर इस कवियित्री के हृदय में वेदना के जिस स्रोत का प्रादुर्भाव हुआ, वह समय पाकर शीघ्र ही भक्ति के स्वरों में फूट पड़ा। नियति के उस निर्मम प्रहार की अनुभूति के पश्चात् मीरा ने अपना समस्त जीवन कृष्ण जी के चरणों में अर्पित कर दिया तथा तन्मयता-पूर्वक साधना पथ पर अग्रसर हो गईं। संवत् १६३० में द्वारिका में इनकी मृत्यु हो गई। इनके रचे हुए चार ग्रन्थ कहे जाते हैं—नरसी जी का मायरा, गीत गोविन्द की टीका, राग गोविन्द और राग सोरठ के पद।

मीरा के काव्य में आत्माभिव्यंजना तथा वेदना की मात्रा जिस परिमाण में उपलब्ध होती है, वह वर्तमान युग में महादेवी के अतिरिक्त अन्य किसी में सुलभ नहीं। भौतिक जगत् के समस्त आकर्षणों का

परित्याग कर उन्होंने भगवान् कृष्ण को अपना जीवनाधार बना लिया था। आत्म-विज्ञान की भावना से रहित होने के कारण उनकी कविता हिन्दी-जगत् में अपना विशेष स्थान रखती है।

कवियित्री मीरा को अपने इष्टदेव के सगुण और निर्गुण दोनों ही रूप समान-रूप से ग्राह्य हैं। उनकी भक्ति के स्वरूप में विषाद और अनुराग दोनों का अद्भुत समन्वय है। उनका काव्य गेयात्मक मुक्तक पदों के रूप में संगृहीत है। इन पदों में माधुर्य-भाव की व्याप्ति पूर्ण रूप से हुई है। आत्म-समर्पण एवं तन्मयता की भावनाएँ इनमें विशेष रूप से प्रस्फुटित हुई हैं। शृंगार, विनय एवं रहस्यवाद से सम्बधित सभी पद इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। भगवान् कृष्ण के प्रौढ़-रूप को भक्ति-रस में विमज्जित कर, उन्होंने जिस प्रकार उसे भक्तों के सम्मुख अवतीर्ण किया है, उसकी दिव्यता का अनुभव कर हृदय सहसा गद्गद् हो उठता है।

रसखान

विधर्मी होते हुए भी कृष्ण-भक्ति में तन्मय रहने वाले कविवर रसखान का जन्म संवत् १६१५ में दिल्ली में तथा मृत्यु संवत् १६९० में हुई थी। अपने इष्टदेव के सामर्थ्य तथा भक्त वत्सल्य पर अगाध विश्वास रखने के कारण उनका स्मरण उच्च कोटि के वैष्णव के रूपमें किया जाता है। ऐसे ही महानुभावों की सहृदयता से प्रभावित होकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने निम्नलिखित उद्गार प्रकट किये थे:

'इन मुसलमान हरि-जनन पै, कोटिन हिन्दू वारिये।'

इनके विषय में यह आख्यायिका प्रचलित है कि युवावस्था में यह किसी रूपवती पर आसक्त थे किन्तु अचानक इनके जीवन में ऐसा परिवर्तन आया कि इनका वह प्रेम कृष्ण भक्तिके रूप में परिणत हो गया। इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं इस प्रकार किया है :

तोरि मानिनी तें हियो, फेरि मोहिनी-मान।
प्रेमदेव की छबहिं लखि, भये मियां रसखानि ॥

इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं—सुजान रसखान (कवित्त-सवैयों में) और प्रेम वाटिका (दोहों में)।

कविवर रसखान की प्रधान अभिलाषा यही थी कि वे निरन्तर अपने प्रिय का साहचर्य-लाभ करें। उनके हृदय में प्रेम की सरिता सदैव उद्वेलित होती रहती थी और यही कारण है कि वे उसे अत्यन्त सूक्ष्म एवं विशद रूप से प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। आत्म-समर्पण की भावना का प्राधान्य होने के कारण उनके काव्य में एक विशेष आकर्षण का संचार हो गया है।

रसखान के कृष्ण शोभा के आगार हैं। उनमें प्रत्येक सहृदय को अपनी छवि से विमोहित कर लेने की शक्ति विद्यमान है। रसखान उनके इसी रूप के भक्त हैं। उन्होंने कृष्ण की विभिन्न यौवन-लीलाओं तथा उनके वेणु-वादन के विचित्र प्रभाव को अत्यन्त रुचि के साथ वर्णित किया है। मनुष्य, पशु, पक्षी अथवा पाषाण-शिला किसी भी रूप में रह कर अपने इष्टदेव का साहचर्य प्राप्त करने की जो कामना उन्होंने व्यक्त की है, वह वास्तव में अत्यन्त मार्मिक है। अपनी मधुर कोमल-कान्त-पदावली से युक्त ब्रजभाषा में रसखान ने जिन भावुक एवं स्वाभाविक भावों का वर्णन किया है, उनके लिये हिन्दी-साहित्य उनका चिर-कृतज्ञ रहेगा।

रहीम

कविवर अब्दुल रहीम खानखाना का जन्म संवत् १६१० में देहली में तथा मृत्यु संवत् १६८२ में चित्रकूट में हुई। सम्राट् अकबर के नव-रत्नों में से एक होने के कारण अपने काल में इनकी गणना विशिष्ट व्यक्तियों में की जाती थी। हिन्दी, संस्कृत, अरबी, फारसी आदि अनेक भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित होने के साथ-साथ वे अत्यन्त उदार, दानशील एवं वीर भी थे। इन समस्त दुर्लभ मानवीय गुणों से विभूषित होने के कारण उनका काव्य भी अत्यन्त सरस एवं रमणीक हो गया है।

हिन्दी के कवियों में कविवर रहीम की दानशीलता प्रसिद्ध है। गंग कवि के दो छन्दों को सुन कर वे इतने अधिक मुग्ध हुए कि उन्होंने उसे छत्तीस लाख रुपये पारितोषिक-स्वरूप दे डाले। परन्तु अकबर का जीवनकाल समाप्त होते ही जहाँगीर ने उन्हें राजविद्रोह के अभियोग में बन्दी बना लिया और उनकी समस्त धन-सम्पत्ति का अपहरण कर लिया। बन्दी काल की समाप्ति पर वे चित्रकूट पर रहने लगे। उस समय भी याचकगण उनके पास आते थे परन्तु अपनी स्वयं की दरिद्रावस्था के कारण वे उनकी याचना को पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ रहते थे। अपनी उस समय की दशा का उन्होंने अत्यन्त करुण एवं मार्मिक वर्णन किया है।

कविवर रहीम का काव्य अनुभूति की ठोस भित्ति पर आधारित है। लीला पुरुषोत्तम की आराधना में लीन होकर उन्होंने अपनी भावनाओं को अत्यन्त स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है। मानव-जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन कर उन्होंने नीति के दोहों की भी अत्यन्त वृहत् मात्रा में रचना की। मुहावरों एवं लोकोक्तियों का यथानोचित प्रयोग होने के कारण उनके काव्य में

हृदय को आकृष्ट करने वाली एक विशिष्ट शक्ति का संचार हो गया है। हृदय की सरस एवं कोमल वृत्तियों के कारण उनकी शृंगारिक कविताओं में भी प्रशंसनीय प्रौढ़ता आ गई है।

रहीम ने अपने काव्य की रचना ब्रजभाषा एवं अवधी में की है। उनकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित एवं सर्वथा भावानुकूल है। प्रवाह एवं चित्ताकर्षण के गुणों को उनकी शैली में प्रमुख स्थान प्राप्त होता है। विधर्मी होते हुए भी उन्होंने अपने ज्ञान द्वारा हिन्दी भाषा की जो श्री-वृद्धि की है, वह चिरस्मरणीय रहेगी। उनकी रचनाओं में रहीम-सतसई, रास-पंचाध्यायी, बरवै नायिका-भेद, मदनाष्टक एवं शृंगार सोरठ का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

केशवदास

चमत्कारवादी कवि केशव का जन्म संवत् १६१२ में ओरछा नगर में हुआ था। ये सनाढय ब्राह्मण थे। इनके पिता पंडित काशीनाथ और पितामह पंडित कृष्णदत्त संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। इन्हें भी विद्वता बपौती में प्राप्त हुई थी। ओरछा राज्य में इनका बड़ा सम्मान था। संवत् १६७४ में इनका देहावसान हुआ। इनकी कृतियों में वाग्वैदग्ध का आधिक्य तथा रागात्मक-तत्व का अभाव है। पाण्डित्य प्रदर्शन का आधिक्य होने के कारण इनका काव्य अधिकाँश स्थलों पर अस्वाभाविक होगया है। उसमें भावुकता का अभाव तथा प्रयास का आधिक्य है।

महाकवि केशव के ग्रन्थों में रामचन्द्रिका, कविप्रिया एवं रसिकप्रिया विशेषतः उल्लेखनीय हैं। सूक्ष्म-निरीक्षण एवं मार्मिक उद्भावनाओं

से रहित होने के कारण उनकी रामचन्द्रिका में किसी विशेष गुण का संचार न हो पाया है। यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' के सम्मुख उसका महत्त्व नितान्त नगण्य है। तथापि शृंगारिक एवं दरबारी-प्रणाली से सम्बन्धित वर्णनों में उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई है। 'कविप्रिया' एवं 'रसिकप्रिया' रीति-सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। इनकी रचना द्वारा केशव ने हिन्दी में इस प्रकार की रचनाओं की परम्परा को प्रारम्भ किया।

केशव रसिक कवि थे। शृंगार के संयोग-पक्ष से सम्बन्धित वर्णनों को प्रस्तुत करना ही उनका प्रधान लक्ष्य था। इस कार्य के लिये उन्होंने अलंकारों का भी प्रचुर प्रयोग किया किन्तु उनके तत्सम्बन्धी दुराग्रह के कारण उनके काव्य की स्वाभाविकता ही नष्ट हो गई। अत्यधिक प्रयास के कारण उनके काव्य में क्लिष्टत्व-दोष भी आ गया है। वास्तव में कवि की अपेक्षा उन्होंने आचार्य के पद का निर्वाह अधिक सफलतापूर्वक किया। उनके प्रत्येक ग्रन्थ पर उनके आचार्यत्व की छाप स्पष्टतः लगी हुई है।

बिहारीलाल

शृंगार रस के प्रधान आचार्य महाकवि बिहारीलाल का जन्म ग्वालियर के निकट बसुआ गोबिन्दपुर नामक ग्राम में संवत् १६६० में हुआ था। ये माथुर चौबे थे। इनका शरीरान्त संवत् १७२० में हुआ था।

उन्होंने अपनी प्रसिद्ध 'बिहारी-सतसई' की रचना अपने आश्रय-दाता जयपुर-नरेश महाराज जयसिंह की आज्ञा से की थी। महाराज

उनकी काव्य-प्रतिभा से इतने अधिक प्रभावित थे कि उन्हें प्रत्येक दोहे पर एक अशर्फी पुरस्कार-स्वरूप प्रदान करते थे। इन दोहों में विविध भावों को जिस प्रकार गुम्फित कर दिया गया है, उसे देख कर हृदय को उनकी महानता के सम्मुख सहसा नत-मस्तक हो जाना पड़ता है।

महाकवि बिहारी के प्रत्येक दोहे पर उनकी सूक्ष्म-निरीक्षणात्मक प्रवृत्ति की छाप लगी हुई है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का उन्होंने अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। उनके वियोग-वर्णनों में ऊहात्मकता के कारण अस्वाभाविकता का संचार हो गया है परन्तु अपने संयोग-वर्णनों में वे पूर्णतः सफल रहे हैं। अनुभावों और सात्विक भावों का चित्रण भी उन्होंने अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया है। उनके दोहों में सरसता और व्यंगात्मकता का सम्मिश्रण इतने सुन्दर रूप में हुआ है कि हृदय को सहसा चमत्कृत हो जाना पड़ता है।

महाकवि बिहारी अत्यन्त उच्च कोटि के कवि थे। उनकी सतसई प्रेम की वह सजीव चित्रशाला है जिसमें रम कर मनुष्य फिर से जन्म पा जाता है। स्वल्प स्थान में बृहत् एवं गम्भीरतम् भावनाओं का प्रतिष्ठान कर देने के कारण ही उनकी सतसई के विषय में यह प्रसिद्ध है:

सतसइया के दोहरा, ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर॥

भूषण

भारतीय समाज के भूषण कविवर भूषण का जन्म संवत् १६७० में तथा मृत्यु संवत १७७२ में हुई।

यह कानपुर जिले के तिकवांपुर ग्राम के निवासी और त्रिपाठी कुलोत्पन्न कान्यकुब्ज ब्राह्मण ठहराये जाते हैं।

इन्होंने अपने काव्य में तात्कालीन,सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का अंकण जिस सफलता से किया है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है। इनकी विचार-शृंखला के मूलाधार वीर केसरी महाराज शिवाजी तथा बुन्देलाधिपति महाराज छत्रसाल थे। यद्यपि इन्होंने अपने आश्रयदाताओं के आदर्श को तनिक अतिशयोक्ति-रंजित कर समाज के सम्मुख रखा तथापि तात्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उनका यह भाव क्षम्य है।

भूषण ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गान करने के हेतु शिवराज-भूषण, शिवा-बावनी एवं छत्रसाल-दशक नामक तीन महत्व-पूर्ण ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों की भाषा ओज-पूर्ण तथा वीर-रस के नितान्त अनुकूल है। उसमें युद्ध के कोलाहल, वीरों के दर्प, बादलों की कड़क एव तलवारों की खड़क का सम्मिलित स्वर गूंज रहा है 'शिवराज-भूषण' में अलंकारों के लक्षणादि देने में भूषण ने संस्कृत अचार्यों का अन्धानुकरण न कर शास्त्रानुमोदित संशोधनों द्वारा अपने आचार्यत्व को पूर्णतः अक्षुण्ण रखा है।

भूषण का कुल कवियों का कुल था। इनके भाई चिंतामणि तथा मतिराम दोनों हिंदी के श्रेष्ठ कवि थे। भूषण ने भी अपनी कविता द्वारा कुल की इस मर्यादा को प्रचलित रखा। अपनी पूत-भावना, देश-प्रेम एवं अध्यवसाय से प्रेरित होकर उन्होंने देश की जो निस्पृह सेवा की, उसके लिये हम उनके युग-युग तक कृतज्ञ रहेंगे।

देव

महाकवि देवदत्त का जन्म संवत् १७३० में हुआ था। यह इटावा निवासी थे। इन्होंने १६ वर्ष की आयु में ही कविता करना आरम्भ कर

दिया था। इस बात का उल्लेख उन्होंने अपने भाव-विलास नामक ग्रन्थ में इस प्रकार किया है :

शुभ सत्रह सौ छियालीस, चढ़त सोरहीं वर्ष।
कढ़ी देव मुख कविता, भाव-विलास सहर्ष॥

संवत् १८२४ में इनका शरीरान्त होगया। इनके रचे हुए ग्रन्थों की संख्या ५२ मानी जाती है। किन्तु अब तक भाव-विलास, भवानी-विलास, अष्टयाम, प्रेम-तरंग, राग-रत्नाकर, काव्य-रसायन, देव-चरित्र, नीति-शतक, आदि केवल २७ ग्रन्थों का ही पता चला है।

आयु-पर्यन्त आश्रयदाता की खोज में भ्रमण करने के कारण उनके काव्य में व्यावहारिकता को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। बहुदर्शी होने के फलस्वरूप उनके काव्य में काल्पनिक तत्व का अभाव और वास्तविक तथ्य का विशेष प्रभाव है। समाज के उच्च एवं निम्न दोनों वर्गों के काव्य के उपादान ही करने के कारण हम उनकी समदर्शिता का सहज ही में अनुकरण कर सकते हैं।

देव के काव्य में शृंगार एवं वैराग्य दोनों को ही स्थान प्राप्त हुआ है। यौवन-काल की रचनाओं में उन्होंने प्रेम के दाम्पत्य सम्बन्धी आदर्श को अत्यन्त मधुर रूप में अभिव्यक्त किया है। 'प्रेम-चन्द्रिका' में प्रेम की विविध अवस्थाओं का चित्रण करने में वे पूर्णतः सफल हुए हैं। स्वाभाविकता का पालन करने के कारण उनके विरह-वर्णन भी अतिशय प्रभावोत्पादक बन गये हैं। वैराग्य भावना का चित्रण वृद्धावस्था की रचनाओं में अधिक हुआ है। उस काल के ग्रन्थों में उन्होंने ईश्वरीय भक्ति, संसार की क्षणिकता एवं विभिन्न मत-मतान्तरों का सफलतापूर्वक प्रतिपादन किया है।

कविता के अतिरिक्त देव ने भाव-विलास, कुशल-विलास आदि रीति सम्बन्धी ग्रन्थों की भी रचना की। भाषा और भाव दोनों ही की

दृष्टि से उनकी कविता अत्यन्त उच्च कोटि की है। शब्दाडम्बर से विमुक्त एवं मौलिकता से युक्त होने के कारण उनका काव्य स्वभावतः रसपूर्ण एवं चित्ताकर्षक बन गया है। भौतिकता के साथ-साथ आत्मिक सौन्दर्य को भी अपने काव्य में प्रस्थापित करने के कारण वे निश्चय ही धन्यवाद के पात्र है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का जन्म संवत् १६०७ में तथा मृत्यु सं० १६४२ में हुई। वे इतिहास प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंशज थे तथा उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र हिन्दी में 'गिरधरदास' के उपनाम से सुन्दर कविता किया करते थे। गृह के इसी साहित्यिक वातावरण से प्रभावित होकर भारतेन्दु जी ने भी केवल १७ वर्ष की आयु से ही साहित्य रचना का कार्य प्रारम्भ कर दिया। भारतेन्दु जी के जीवन में सम्पन्नता तथा स्वतन्त्रता का विशेष स्थान था। वे विभिन्न सामाजिक उत्सवों में अत्यन्त सहृदयतापूर्वक योग देते थे तथा समय-समय पर नवीन लेखकों को साहित्य रचना के लिये प्रोत्साहन प्रदान करते थे। अपने जीवन में उन्होंने कविता, नाटक तथा निबन्ध सभी की रचना की तथा 'कवि-वचन-सुधा', 'हरिश्चन्द्र पत्रिका', 'बाला बोधिनी' आदि पत्रिकाओं का अत्यन्त सफलतापूर्वक सम्पादन किया। उनका प्रमुख उद्देश्य अपने देश के साहित्य में जातीय भावों का प्रतिष्ठान करना था और अपने इस लक्ष्य की पूर्ति में वे पूर्णतः सफल हुए।

भारतेन्दु जी ने अपनी रचनाओं के द्वारा हिन्दी में एक नवीन शैली की उद्भावना की। उन्होंने काव्य रचना के लिये ब्रजभाषा को तथा

गद्य-रचना के लिये खड़ी बोली को उपयुक्त ठहराया। उनकी भाषा में माधुर्य तथा प्रसाद गुणों के साथ-साथ प्रौढ़ता एवं प्रांजलता को भी विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। विनय, शृंगार, हास्य एवं राष्ट्र सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त उन्होंने 'नील-देवी', 'अंधेर नगरी', 'सत्य-हरिश्चन्द्र', 'भारत दुर्दशा', 'भारत रमणी', 'विद्या सुन्दर' आदि अनेक श्रेष्ठ नाटकों एवं प्रहसनों की भी रचना की। हिन्दी के अतिरिक्त वे उर्दू में भी 'रसा' उपनाम से सुन्दर कविता किया करते थे।

भारतेन्दु जी ने अपनी कविता में राग-रागनियों के प्रयोग की ओर विशेष ध्यान दिया। अलंकारों के स्वाभाविक संगठन के कारण उनके काव्य में परिष्कृति, परिमार्जन तथा सौन्दर्य का अद्भुत संचार हो गया है। प्राचीन और नवीन के उस सन्धिकाल में जिस मधु-वर्षिणी एवं प्राण-दायिनी कला की उपेक्षा थी, उसी की सम्पूर्ति करने के कारण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का स्मरण चिरकाल तक एक युग-प्रवर्तक के रूप में किया जायगा।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

'प्रियप्रवास' के अमर कवि पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का जन्म संवत् १९२२ में तथा मृत्यु संवत् २००४ में हुई थी। अनेक वर्षों तक कानूनगो के पद पर कार्य करने पर अपने जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने काशी विश्वविद्यालय में अध्यापन का कार्य भी किया। उनका स्वभाव अत्यन्त मधुर एवं संतोषी था। सरल जीवन एवं उच्च विचारों के कारण उनके काव्य में भी लोकोत्तरानन्द प्रदान करने की शक्ति का संचार होगया है।

आधुनिक काल के हिन्दी कवियों में उपाध्याय जी का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उन्होंने ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली दोनों को ही अपने काव्य माधुर्य से श्री-सम्पन्न किया है। ब्रजभाषा में उनका 'रसकलश' नामक ग्रन्थ एक अनूठी रचना है। खड़ी बोली में उन्होंने राम एवं कृष्ण काव्य को लेकर 'प्रियप्रवास' एवं 'वैदेही-बनवास' नामक दो प्रसिद्ध महाकाव्यों की रचना की। इन काव्यों में राम एवं कृष्ण के ईश्वरीय रूप का परित्याग कर उनमें मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा की गई है।

उपाध्याय जी की भाषा में मुहावरों एवं लोकोक्तियों का विशेष प्रयोग हुआ है। अपनी मधुर एवं प्रवाह-पूर्ण शैली के द्वारा उन्होंने अपने काव्य में अनेक उदात्त भावनाओं को अत्यन्त सफलतापूर्वक सन्निहित कर दिया है। उनके चोखे एवं चुभते चौपदों पर उर्दू की काव्य प्रणाली का पर्याप्त प्रभाव है। पद्य की भांति ही गद्य की रचना करने में भी वे पूर्णत: सफल हुए हैं। उनका 'बोलचाल' नामक गद्य-ग्रन्थ इसका उत्कृष्ट प्रमाण है। 'अधखिला फूल' एवं 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' उनके दो प्रसिद्ध उपन्यास हैं। हिन्दी साहित्य के इतिहास को भी उन्होंने अपने मौलिक दृष्टिकोण से उपस्थित किया है। 'कबीर-वचनावली' में उन्होंने कबीर के पदों का अत्यन्त सरस संग्रह किया है। इस संग्रह की भूमिका में उन्होंने कबीर की जीवन घटनाओं को भी अत्यन्त विद्वत्तापूर्वक सम्पादित किया है। काव्य के अन्य ग्रन्थों में उनके पद्यप्रसून, प्रेमाम्बुप्रवाह, प्रेम-पुष्पोपहार आदि का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है।

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

व्रजभाषा के अनन्य प्रेमी बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर का जन्म सं०१६२३ में तथा मृत्यु सं० १६८६ में हुई थी। उनके पिता बाबू पुरुषोत्तमदास हिन्दी साहित्य के अनन्य प्रेमी तथा भारतेन्दु जी के साहित्यिक मित्रों में अन्यतम थे। कुल के इसी साहित्यिक वातावरण में पोषित होने के कारण रत्नाकर जी ने भी शीघ्र ही अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। अपने साहित्य प्रेम से प्रेरित हो उन्होंने सदैव ही विविध साहित्य-गोष्ठियों एवं कवि-सम्मेलनों को अपनी वाणी से अलंकृत किया।

रत्नाकर जी की रचनाओं में 'उद्धव-शतक' एवं 'गंगावतरण' का विशेष स्थान है। उद्धव-शतक में गोपियों ने उद्धव के ज्ञानोपदेशों का जिस स्वाभाविक, सरल एवं व्यंगात्मक रूप में खण्डन किया है वह वास्तव में अत्यन्त मार्मिक है। कवि ने कठिन से कठिन समस्याओं को भी इतने कौशलपूर्वक प्रतिपादित किया है कि समस्त सन्देहों का निवारण हो जाता है। उनके प्रत्येक भाव पर उनके गम्भीर जीवन-द्रष्टा होने की छाप लगी हुई है।

रत्नाकर जी व्रजभाषा के पुनर्जन्मदाता थे। अपने जीवन पर्यन्त वे इसी भाषा का अध्ययन कर इसमें एकरूपता का संचार करने का प्रयत्न करते रहे और वास्तव में उनकी भाषा में एक अपूर्व सौन्दर्य एवं प्रभावोत्पादक शक्ति विद्यमान है। उनकी शैली में मौलिकता एवं विशिष्टता का विशेष आभास मिलता है। अलंकारों के प्रयोग द्वारा काव्य में एक नवीन छटा का समावेश करने में वे पूर्णतः सफल हुए हैं। लोकोक्तियों एवं मुहावरों का प्रयोग भी उन्होंने अत्यन्त प्रचुर परिमाण में किया है। काव्य के साथ-साथ भाष्य करने की

शक्ति भी उनमें उच्च कोटि की विद्यमान थी। बिहारी सतसई के समस्त भाष्यों में सर्वश्रेष्ठ उनका बिहारी-रत्नाकर नामक ग्रन्थ इसका उत्कृष्ट प्रमाण है।

मैथिलीशरण गुप्त

राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म संवत १६४३ में चिरगाँव, जिला झांसी में हुआ था। साहित्य रचना की ओर उन्हें प्रारम्भ से ही अत्यन्त तीव्र अनुराग था। इस प्रवृत्ति के लिये मुंशी अजमेरी एवं पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन प्रदान किया। 'सरस्वती' में उनकी कविताएँ निरन्तर प्रकाशित होने लगीं और शीघ्र ही वह समय आया जब सरल एवं बोधगम्य भाषा में काव्य-रचना करने के कारण वे सर्वप्रसिद्ध हो गये।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त के काव्य का सम्बन्ध अधिकाँशत: मानव समाज की विविध प्रवृतियों से है। समाज एवं राष्ट्र की सेवा में संलग्न रहने का भाव ही उनके काव्य का मूल प्रेरक है। अपनी कविता में उन्होंने कल्पना एवं अनुभूति का अद्भुत सामंजस्य उपस्थित किया है। राम एवं कृष्ण दोनों को ही उन्होंने अपनी श्रद्धा समान रूप से समर्पित की है तथापि उनको वास्तविक सफलता की प्राप्ति रामचरित्र के अंकण में ही हुई है।

गुप्त जी के काव्य में सहृदयता एवं भावुकता को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। भारतीय साहित्य के उपेक्षित पात्रों को पुनः प्रतिष्ठित करना ही उनका प्रधान लक्ष्य है। 'साकेत' की उर्मिला एवं 'यशोधरा' की राहुल-जननी के चरित्र को इसके प्रमाण रूप में उपस्थित किया जा

सकता है। 'भारत-भारती' में उन्होंने पुण्य-भूमि भारतवर्ष के पुरातन, आधुनिक एवं भविष्य के रूप से सम्बन्धित अनेक मौलिक उदभावनाएँ प्रस्तुत की हैं। अपने देश की भूमि, पर्वत, निर्झर एवं गुहा सभी से उन्हें तीव्र अनुराग है, सभी को उनके काव्य में उपयुक्त स्थान प्राप्त हुआ है।

गुप्त जी ने प्रबन्ध काव्यों के साथ-साथ स्फुट रचनाएँ भी की हैं। उनकी अन्य कृतियों में जयद्रथ-वध, पंचवटी, अवध, द्वापर, गुरुकुल, किसान, हिन्दू, शकुन्तला एवं सिद्धराज का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। आजकल वे महाभारत को पद्य-बद्ध करने में संलग्न हैं। आशा है शीघ्र ही उनका यह बृहत-महाकाव्य दिग्दिगन्त को अपने प्रकाश से आलोकित करने लगेगा।

माखनलाल चतुर्वेदी

प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि पं० माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म सं० १६४५ में मध्यप्रान्त के बावई ग्राम में हुआ था। अध्ययन समाप्त करने पर प्रारम्भ में उनकी नियुक्ति एक विद्यालय में अध्यापक के रूप में हुई। परन्तु शीघ्र ही अपने स्वावलम्बन एवं स्वाभिमान के बल पर उन्होंने साहित्य में एक उच्च स्थान ग्रहण कर लिया। हिन्दी-जगत में वे'एक भारतीय आत्मा' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

चतुर्वेदी जी की कविताएँ अनुभूति-युक्त एवं मार्मिक हैं। उनके भावों में प्रदान करने की एक अद्भुत शक्ति सन्निहित है। कल्पना-कानन प्रेरणा के स्थान पर वास्तविक मनोभूमि में विचरण करने के कारण उनके काव्य में युग का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता का संचार हो गया है। गाँधीवाद से प्रभावित होने के कारण इनके काव्य में एक विशेष संयमता दृष्टिगोचर होती है।

चतुर्वेदी जी ने राष्ट्रीय कविताओं के साथ साथ प्रेमात्मक कविताओं की भी रचना की है। उनकी कविताओं में कलुषित वासनात्मक प्रवृत्तियों के स्थान पर पवित्र ओज एवं त्याग की भावनाओं को अधिक प्रश्रय मिला है। उन्होंने प्रेम के लोकोत्तर रूप को अपनी कविताओं में अत्यन्त सजीवता-पूर्वक अंकित कर दिया है। अपने प्रेमोद्वेग को विश्व के कण-कण से सम्बद्ध कर देने के कारण उनका काव्य माधुर्य एवं आकर्षण की एक अद्भुत क्रीड़ा-स्थली के रूप में परिणित हो गया है।

चतुर्वेदी जी की कविताओं में शौर्य एवं कर्म का सन्देश छिपा हुआ है। अपनी कुछ कविताओं में उन्होंने रहस्यवादी-विचार-धारा का भी सम्पादन किया है। इन कविताओं में आत्मा-परमात्मा, सीम-असीम आदि के पारस्परिक सम्बन्धों का अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया गया है। उनकी भाषा में संस्कृत शब्दों का आधिक्य है। उर्दू शब्दों का प्रयोग भी उन्होंने उन्मुक्त रूप से किया है। पद्य की भाँति गद्य-रचना करने में भी वे कुशलहस्त हैं। उनका 'कृष्णार्जुन-युद्ध' एक प्रसिद्ध नाटक है। 'साहित्य-देवता' हिन्दी के गद्य-काव्यों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। 'हिम-किरीटिनी' में उनकी कविताओं का उत्कृष्ट संग्रह हुआ है।

जयशंकर 'प्रसाद'

हिन्दी-साहित्य के प्राङ्गण को एक नवीन आलोक से पूरित कर देने वाले बाबू जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म संवत १९४६ में तथा मृत्यु संवत १९९४ में हुई थी। उनकी शिक्षा का अधिकांश भाग गृह पर ही सम्पन्न हुआ। सत्संग के कारण बाल्यकाल से ही उनकी रुचि काव्य-रचना की ओर होगई। प्रारम्भ में उन्होंने कविता के लिये बृजभाषा को अपनाया परन्तु बाद में वे खड़ी बोली की ओर उन्मुख हो गये।

प्रसाद जी अपने युग के सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक थे। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास तथा निबन्ध सभी को उन्होंने अपनी अथक साधना के द्वारा कीर्तिवान बनाया। भारतीय संस्कृति के अध्ययन की ओर उनकी विशेष रुचि थी। उनके नाटकों में उनकी यह प्रवृत्ति स्पष्टत: परिलक्षित होती है। कविता के भाव एवं कला दोनों पक्षों की उन्होंने पर्याप्त श्रीवृद्धि की। भाव-पक्ष में उन्होंने छायावाद एवं रहस्यवाद से सम्बन्धित रचनाएँ प्रस्तुत कर कवियों को एक नवीन काव्य-क्षेत्र से परिचित कराया। इसी प्रकार कला-पक्ष में उन्होंने खड़ी बोली को एक परिष्कृत एवं परिमार्जित रूप प्रदान किया।

अपनी संस्कृति एवं सभ्यता के प्रति प्रसाद जी को अत्यधिक गौरव था। उनकी रचनाओं में उनका राष्ट्रीय प्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ है। प्रकृति के सौन्दर्य को उन्होंने उन्मुक्त रूप से ग्रहण किया है। उनके कामायनी नामक महाकाव्य में प्रकृति के विविध रूपों को अत्यन्त मौलिकता के साथ उपस्थित किया गया है। इस ग्रन्थ में मनु एवं श्रद्धा के चरित्र को लेकर सृष्टि के आदि-काल के सम्बन्ध में अनेकों सुन्दर उदभावनाओं को प्रस्तुत किया गया है। शीघ्र ही वह समय आयेगा जब इसकी गणना विश्व के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों में की जायेगी। प्रसादजी की अन्य रचनाओं में निम्नलिखित का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है:—

काव्य—आंसू, लहर, झरना, प्रेम-पथिक, करुणालय, कानन-कुसुम आदि।

नाटक—स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त, राज्य-श्री, अजातशत्रु, ध्रुव-स्वामिनी, एक घूँट आदि।

उपन्यास—कंकाल, तितली एवं इरावती,।

कहानी-संग्रह—आकाशदीप, प्रतिध्वनि, आँधी, छाया आदि।

निबन्ध—काव्य और कला तथा अन्य निबंध।

गोपालशरणसिंह

काव्य में सारल्य का प्रतिनिधित्व करने वाले ठाकुर गोपालशरणसिंह का जन्म सं० १६४८ में रीवाँ राज्य के नई गढ़ी नामक ग्राम में हुआ था। शैशव-काल से ही काव्य-प्रेमी होने के कारण उन्होंने संस्कृत एवं हिन्दी के प्राचीन कवियों की रचनाओं का अत्यन्त रुचिपूर्वक अध्ययन किया। समय प्राप्त होने पर उन्होंने स्वयं भी काव्य-रचना प्रारम्भ की। सर्वप्रथम तो उन्होंने ब्रजभाषा को अपनाया परन्तु बाद में वे खड़ी बोली की ओर उन्मुख हो गये। पूज्यवर पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में उनकी कविताएं प्रकाशित कर उस समय उन्हें विशेष प्रोत्साहन प्रदान किया।

ठाकुर साहब के काव्य पर बंगला एवं अँग्रेजी साहित्य का भी पर्याप्त प्रभाव है। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण सूक्ष्म-विश्लेषणात्मक है। इस विश्लेषण प्रवत्ति की छाप उनके काव्य पर स्पष्टत: परिलक्षित होती है। प्रकृति के विविध कार्य-कलापों का उन्होंने अत्यन्त निकट से अध्ययन किया है। मानव-जीवन एवं प्रकति के अविभाज्य साहचर्य को उन्होंने जिस सरल एवं बोधगम्य भाषा में अभिव्यक्त किया है, वह वास्तव में प्रशंसनीय है।

ठाकुर साहब ने अपने काव्य में नारी के विविध मनोभावों को अत्यन्त कुशलतापूर्वक चित्रित किया है। सामाजिक प्रगति पर भी उन्होंने अत्यंत सुन्दर उद्भावनाएं प्रस्तुत की हैं। दार्शनिक गम्भीरता एवं जटिलता के स्थान पर भक्त की जिज्ञासा-रक सरलता को उन्होंने अपने भक्ति-सम्बन्धी काव्य में विशेष महत्व प्रदान किया है। ग्रामीण वातावरण एवं ग्रामोत्थान के सम्बंध भी उन्होंने अनेक प्रशंनीय दृश्य उपस्थित किये हैं।

ठाकुर साहब की भाषा भावानुकूल, सरस, व्याकरण-सम्मत एवं स्वतः प्रवाहनीय है। उनकी शैली में प्रौढ़ता एवं परिमार्जन को एक पृथक स्थान प्राप्त हुआ है। हिंदी जगत में उनके समान भाषा का व्यवहार करने वाले बिरले ही हैं। उनकी रचनाओं में मानवी, कादंबिनी, ज्योतिष्मती, माधवी एवं संचिता का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

वियोगी हरि

ब्रजभाषा एवं ब्रजराज के अनन्य भक्त कविवर वियोगी हरि का जन्म सं० १९५३ में छत्रपुर राज्य में हुआ था। साहित्य-रचना एवं समाज-सुधार दोनों ही ओर समान रूप से उन्मुख रहने के कारण उनके काव्य में एक विशेष संदेश निहित है। दार्शनिक एवं वीर-रस-सम्बंधी भावों को उनकी कविता में प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है। उनकी 'वीर-सतसई' ने ब्रजभाषा के साहित्य-भण्डार को राष्ट्रीय भावनाओं से आपूरित कर एक प्रशंसनीय कार्य किया है। इस ग्रथ के साहित्यिक मूल्य को आँकते हुए ही हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने इस पर १२००) का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक प्रदान किया।

वियोगी हरि जी वीर-भाव के अनन्य उपासक हैं। वीर-कवि, वीर-नेत्र, वीर-खड्ग, एवं वीर-वक्ष, सभी से उन्हें उत्कट प्रेम है। उनकी 'सतसई' में शिशु केवल शिशु नहीं, खड्ग-खिलौने से अपने भाग्य का निर्माण करने वाला है। उत्साह-स्थायी-भाव-युक्त वीर-भावों को उन्होंने अपनी युक्तियों में पूर्णतः प्रतिफलित कर दिया है। यद्यपि कवित्त, छप्पय, शैली के स्थान पर, दोहा-शैली अपनाने के कारण उनकी 'वीर-सतसई' में वीर-रस का पूर्ण स्फुरण न हो सका है

तदपि अपने युग की मान्यताओं के अनुसार वह एक सर्वथा सफल रचना है।

वियोगी जी के हृदय में भावुकता एवं सेवा-भावना का विशेष प्राधान्य है। सरसता, सुगठन एवं हृदय-स्पर्शिनी शक्ति के कारण उनकी कविता में उच्च कोटि की काव्य-प्रतिभा का संचार हो गया है। उनके 'भावना' एवं 'अन्तर्नाद' नामक गद्य-काव्य ग्रंथ भी हृदय की वेदना को स्वाभाविकतापूर्वक अभिव्यक्त करने के कारण हिंदी साहित्य में अपना उच्च स्थान रखते हैं। उनकी अन्य रचनाओं में प्रेम-पथिक, प्रेम-शतक, प्रेमांजलि, असहयोग-वीणा, चरखा-स्तोत्र एवं चरखे की गूँज आदि का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

प्रतिभाशील कवि पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का जन्म संवत् १९५४ में ग्वालियर राज्य के भयाना नामक ग्राम में हुआ। साहित्य एवं राजनीति दोनों की ही समान रूप से आराधना करने पर भी वे अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल हुए हैं। उनके व्यक्तित्व में सरलता एवं सहृदयता का विशेष स्थान है। वे अत्यन्त निर्लिप्त एवं विकार रहित भाव से देश-सेवा में संलग्न रहे हैं। गांधीवाद के प्रभाव से उन्होंने सदैव नवीन उत्साह को ग्रहण किया है। वक्ता, कवि और कहानी लेखक तीनों ही रूपों में वे जीवन-क्षेत्र में सफल रहे हैं। राष्ट्रीय-चेतना से आपूर्ण रहने के कारण उनके काव्य का हिन्दी में एक पृथक स्थान है।

नवीन जी के काव्य में वीर एवं श्रृंगार रस को अत्यन्त उन्मादकारी रूप प्राप्त हुआ है। विप्रलम्भ श्रृंगार के चित्रण में वे

विशेष सफल रहे हैं। वेदना के पुलिनों पर खड़े होकर उन्होंने जिस करुण रागिनी का गान किया है, वह वास्तव में अत्यन्त मार्मिक है। सामाजिक वैषम्य के प्रति उन्होंने जिस विद्रोह को प्रस्फुटित किया है वह उनके काव्य के प्रत्येक छन्द में अत्यन्त वेगवती धारा के रूप में फूट पड़ा है। अन्त में वह स्थिति आती है जब उनकी असन्तोष की भावना विश्व के कण-कण को भस्मसात् कर देने को प्रस्तुत हो जाती है। उस समय उनके हृदय से जिन भावों का स्फुरण हुआ है, वे वास्तव में अत्यन्त उन्मेषकारी हैं।

नवीन जी के काव्य में भाव, अनुभूति एवं कल्पना का अत्यन्त सुन्दर सामंजस्य हुआ है। उनकी कविता में ओज, माधुर्य एवं प्रसाद तीनों ही गुणों की प्राप्ति होती है। प्रणय, मादकता एवं उन्माद का संचार उनकी कविता का विशेष गुण है। 'विस्तृत उर्मिला' नामक वर्णनात्मक महाकाव्य में उन्होंने उर्मिला के चरित्र को अत्यन्त मनोवैज्ञानिक रीति से प्रस्तुत किया है। 'कुंकुम' में उनकी प्राचीन कविताओं का अत्यन्त सुन्दर संग्रह उपलब्ध होता है।

उदयशंकर भट्ट

गम्भीर अनुभूति से सम्पन्न कविवर उदयशंकर भट्ट का जन्म संवत् १९५५में हुआ था। हिन्दी और संस्तकृ के सामान रूप से विद्वान् होने के कारण उनकी कविताओं में पाण्डित्य की मात्रा विशेष रूप से प्राप्त होती है। उनके काव्य में विरोधी उपकरणों की अत्यन्त अद्भुत समष्टि हुई है। प्रगतिवादी होते हुए भी उन्हें आर्य-संस्कृति के प्राचीन वैभव से उत्कट प्रेम है। अतीत के सम्बल ग्रहण करने पर भी उनमें पलायनवाद की प्रवृत्ति है।

भट्ट जी खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। अपने युग की भावनाओं को उन्होंने काव्य में अत्यन्त सफलता पूर्वक ढाल दिया है। दर्शन-शास्त्र के पण्डित होने के कारण उनके काव्य में दार्शनिक सिद्धान्तों का बाहुल्य है। रहस्यवादी भावनाओं को भी उन्होंने कहीं-कहीं ग्रहण किया है। परन्तु उनकी रचनाओं की मूल भावनाओं का सम्बन्ध अब दिन-प्रतिदिन प्रगतिवाद से होता जा रहा है। भाग्य-पीड़ित जनता की मूक चीत्कारों को वाणी प्रदान करने की ओर उनका ध्यान अधिक आकृष्ट है। निरीश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रचार कर वे मानव में आत्मविश्वास का जागरण करने की आकांक्षा से प्रेरित हैं।

भट्ट जी के काव्य में वेदनात्मक भावों का चित्रण अधिक है। प्रकृति और मानव के सम्बन्धों को अधिकाधिक सुदृढ़ करने की ओर वे सतत रूप से सचेष्ट हैं। सामाजिक वैषम्य एवं यथार्थवादी भावनाओं को उनके काव्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। भाग्यवाद का तिरस्कार कर उन्होंने बाहुबल पर विश्वास करने की भावना का अधिक प्रचार किया है। कवि के साथ-साथ नाटक-कार के रूप में भी वे पूर्णतः सफल हुए हैं। उनके अम्बा, दाहर, विजय, विक्रमादित्य, विश्वमित्र, मत्स्यगन्धा आदि नाटक हिन्दी में अपना विशेष स्थान रखते हैं। एकांकी नाटक लिखने में भी वे पूर्णतः प्रवीण हैं। काव्यों में उनके राका, विसर्जन, मानसी एवं अमृत और विष आदि काव्य-संग्रहों का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

स्वतन्त्र चेता कवि पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का जन्म संवत् १९५५ में हुआ था। उन्हें संस्कृत, बँगला एवं अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान

है। प्रारम्भ में उन्होंने बँगला में कतिपय कविताओं की रचना की परन्तु बाद में सं० १६७२ से वे खड़ी बोली हिंदी में कविता करने लगे। उनकी कविता में संस्कृत पदों के साथ साथ बँगला की कोमल-कान्त पदावली का भी समावेश हो गया है। हिंदी-क्षेत्र में छंद-बंधन का परित्याग कर अतुकांत रचना करने वाले प्रथम व्यक्ति होने के कारण कविवर निराला का नाम चिरकाल तक सम्मान-पूर्वक लिया जाता रहेगा।

कविवर निराला का काव्य दर्शन-शास्त्र की गूढ़ समस्याओं का निदान उपस्थित करने वाला है। कवि ने विवध दार्शनिक भावों को अत्यंत कोमलता-पूर्वक अभिव्यक्ति प्रदान की है। प्रकृति के प्रति उनके काव्य में एक अद्भुत जिज्ञासा-वृत्ति का वास है। छायावादी कवि होने के कारण उन्होंने प्रकृति की चेष्टाओं में भी माननीय भावनाओं के दर्शन किये हैं।

कविवर निराला के काव्य में शृंगार एवं करुण रस को विशेष प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है। भावना एवं कला दोनों का ही उचित उपयोग होने के कारण उनका काव्य सफलता के आगार में परिणित हो उठा है। अनुभूति एवं वर्तमान जगत की विषमताओं के प्रति असंतोष की भावनाओं का प्रधान्य होने के फलस्वरूप उनकी विचार-धारा में क्रांति को एक महत्वपूर्ण स्थान की प्राप्ति हुई है। प्रगतिवाद की प्रवृत्तियों के समर्थक होने के कारण उन्होंने श्रमिक-वर्ग की कठिनाइयों को भरसक समझने की चेष्टा की है। उनकी 'भिक्षुक' एवं 'तोड़ती पत्थर' आदि कविताएँ इसकी उत्कृष्ट प्रमाण हैं।

महाकवि निराला ने अपने काव्य में संगीत की लय को एक प्रमुख स्थान प्रदान किया है। हिन्दी के गीत-काव्य में उनकी कविताओं को एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है। 'गीतिका' की कविताओं में गेयात्मकता को संचरित करने का विशेष प्रत्न किया गया है। कवि की

अन्य रचनाओं में परिमल, अनामिका तथा तुलसीदास का नाम उल्लेखनीय है। उनके अप्सरा, निरूपमा और अलका आदि उपन्यास भी प्रसिद्ध हैं। 'सखी' एवं 'लिलो' नामक ग्रंथों में उनकी कहानियों का उत्कृष्ट संग्रह है।

सुमित्रानन्दन पन्त

प्रकृति-पुत्र पं० सुमित्रानन्दन पंत का जन्म संवत् १९५८ में कूर्माचल प्रदेश में हुआ था। प्रकृति के क्रोड़ में पोषण प्राप्त करने के कारण उनके जीवन एवं काव्य में उसका विशेष स्थान रहा है। उनकी सभी रचनाओं में प्राकृतिक सौंदर्य किसी न किसी रूप में वर्तमान है। जब भी उन्हें समय प्राप्त हुआ, उन्होंने प्रकृति के विवध स्वरूपों का विस्तृत अध्ययन किया और अपनी वाणी के सत्य द्वारा उसे काव्य में ढाल दिया। अपने हृदय की इसी अनन्यता के कारण वे हिंदी-कवियों में प्रकृतिक सौंदर्य का चित्रण करने में सर्वाधिक सफल हुए हैं। इन प्राकृतिक चित्रों की सुषमा के साथ जिस समय उनकी भावनाओं के सौंदर्य का सम्मिलन होता है उस समय एक विचित्र आनंद-लोक की सृष्टि होती है जो शीघ्र ही पाठक को विस्मय-विमुग्ध कर कवि के हृदय से तादात्म्य-सम्बंध स्थापित करने को बाध्य करती है।

पंत जी ने प्रकृति के मधुर एवं उग्र दोनों ही रूपों का चित्रण किया है। उनकी कविता पर कवींद्र रवींद्र की प्रतिभा का गहन प्रभाव है। उनके काव्य में कल्पना का स्थान सर्वप्रधान है। शेष समस्त भावों, विचारों एवं अभिव्यंजना-शैलियों का प्रयोग इसी कल्पना की परिपुष्टि के लिये किया गया है। अपने युग की विचार धारा से प्रभावित हो कर छंदों के बंधन को उन्होंने सर्वांशत: अस्वीकार किया

है। अलङ्कारों के प्रयोग में भी उन्होंने प्रयास के स्थान पर स्वाभाविकता को मान्यता प्रदान की है।

पंत जी के काव्य में भाव-पक्ष एवं कला-पक्ष दोनों को ही रक्षण प्राप्त हुआ है। उनके पूर्व-कालीन काव्य में छायावाद का तथा उत्तर-कलीन काव्य में प्रगतिवाद का विशेष स्थान है। मानव-समजा के भविष्य के सम्बंध में उन्हें अनेक आशायें हैं। उनकी रचनाओं में पल्लव, ग्रंथि, ग्राम्या, युगांत, युगवाणी, गुंजन, वीणा, स्वर्ण-धूलि आदि का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है।

सुभद्राकुमारी चौहान

'झाँसी की रानी' की अमर कवियित्री श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान का जन्म सं० १९६१ में तथा मृत्यु सं० २००५ में हुई थी। अपने जीवन-पर्यन्त वे साहित्य एवं समाज, दोनों की सामर्थ्यानुसार सेवा करती रहीं। साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने हिंदी कविता एवं कहानी को अपनी मधुमयी वाणी द्वारा अलंकृत किया तथा समाज के क्षेत्र में उन्होंने भारत के स्वाधीनता-आंदोलन में सक्रिय भाग लेकर अनेक बार जेल यात्रा भी की।

श्रीमती चौहान की कविताएँ अत्यन्त उच्च कोटि की हैं। उनके काव्य में राष्ट्रीय भावनाओं को जिस ओजपूर्ण शैली में अभिव्यक्त किया गया है, वह वास्तव में अत्यन्त उन्मेषकारी हैं। उन्होंने कल्पना के स्थान पर वास्तविक तथ्यों के चित्रण की ओर विशेष ध्यान दिया है। वेदनात्मक काव्य की रचना करने के कारण उनके उद्गारों में हृदय को स्पर्श करने की एक अद्भुत शक्ति है। जीवन की अनुभूतियों को उन्होंने अत्यन्त सरल एवं सुस्पष्ट भाषा में अभिव्यक्त किया है।

माधुर्य, ओज एवं प्रसाद तीनों ही गुणों को उनकी कविता में समान स्थान प्राप्त हुआ है। वीर रस की हो भाँति उन्होंने वात्सल्य एवं करुण रस की भी अत्यन्त सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

श्रीमती चौहान की कविताओं में आशा का एक अमिट गौरव सन्देश निहित है। नारी होने के नाते नारी-हृदय की भावनाओं का चित्रण करने में वे सर्वाधिक सफल हुई हैं। हृदय की अनन्यता के कारण उनकी करुण रस की कविताओं में भी एक द्रवणकारी मार्मिकता का संचार हो गया है। अपनी स्पष्ट सुबोध एवं भाव-व्यंजक शैली की सहायता से उन्होंने निश्चय ही खड़ी बोली के वर्तमान काव्य को एक विशेष माधुर्य का दान दिया है।

कविता की भाँति ही कहानी-रचना में भी श्रीमती चौहान को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। उनकी कहानियों में भारतीय नारी के जीवन एवं उसकी प्रधान मनोभावनाओं को वास्तविक प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है। इन रचनाओं पर उन्हें हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की ओर से दो बार सक्सेरिया पुरस्कार भी प्रदान किया गया है। उनको कविताओं का संग्रह 'मुकुल' में तथा कहानियों का संग्रह 'बिखरे मोती' एवं 'उन्मादिनी' में प्राप्त होता है।

रामकुमार वर्मा

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी-अध्यापक कविवर रामकुमार वर्मा का जन्म सं० १९६२ में हुआ था। बाल्य-काल से ही उच्च कोटि की कवि-प्रतिभा वर्तमान होने के कारण उन्होंने १७ वर्ष की आयु में ही 'देश सेवा' नामक एक कविता पर ४१) का पुरस्कार प्राप्त किया। अवकाश के क्षणों में सदैव ही कल्पना एवं अनुभूति का सामंजस्य कर

साहित्य-साधना करने के कारण उन्होंने कालान्तर में 'चित्ररेखा' नामक एक प्रौढ़तम काव्य की रचना की जिस पर उन्हें २०००) का देव• पुरस्कार प्राप्त हुआ।

कविवर रामकुमार वर्मा की कविताओं में रहस्यवाद का प्राधान्य है। प्रकृति के व्यक्त रूप में ही उन्होंने परमेश्वर के अव्यक्त रूप के दर्शन किये हैं। काव्य में प्रेम एवं सौन्दर्य-सम्बंधी भावनाओं को उन्होंने अत्यंत उच्च स्तर पर स्थापित किया है। जीवन के राग-विराग, हास-रुदन, सभी को उन्होंने आत्मानुभूति की लहरों पर तैरा कर बहा दिया है।

वर्मा जी ने अपनी कविताओं में हृदय के सुख-दुख, आशा-निराशा आदि सभी भावों को अत्यंत कुशलतापूर्वक चित्रित किया है। भौतिक वातावरण को परित्यक्त कर हृदय में पारलौकिक मोक्ष की एक तीव्र आकाँक्षा को छुपा, उन्होंने अपने चरणों को अत्यन्त विश्वास के साथ साधना के पथ पर बढ़ाया है। यही कारण है कि उनकी कविताओं में उस करुणाभिभूत संदेश का वास है, जो हृदय को सहज ही प्रभावित कर देने में सक्षम है।

कविवर वर्मा की भाषा भावानुकूल, मनोहर एवं स्वाभाविकता से आपूरित है। भावों को शब्द-जाल में गुम्फित कर देने में वे नितांत सफल हुए हैं। कविता की भाँति उन्होंने एकाँकी नाटकों एवं आलोचनात्मक निबंधों की भी रचना की है। 'पृथ्वीराज की आँखें' एवं 'रेशमी टाई' में संग्रहीत एकाँकी इस कथन के प्रमाण हैं कि वर्मा जी हिंदी के वर्तमान एकाँकी-नाटककारों में शीर्ष स्थान पर अवस्थित हैं। 'हिंदी साहित्य' के इतिहास को उन्होंने अपने निजी आलोचनात्मक दृष्टिकोण से अत्यंत मौलिक रूप में उपस्थित किया है। कबीर के सम्बंध में अत्यंत परिश्रमपूर्वक गवेषणाएँ की हैं। कबीर की रहस्यवादी

विचार-धारा पर उन्होंने जिस ग्रंथ की रचना की है, वह इसका उत्कृष्ट प्रमाण है। उनके काव्य-ग्रंथों में अञ्जलि, अभिशाप, चन्द्रकिरण, निशीथ एवं हिम-हास का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है।

महादेवी वर्मा

वेदना-प्रधान कवियित्री सुश्री महादेवी वर्मा का जन्म संवत् १६६४ में फर्रुखाबाद में हुआ था। संवत् १६६० में उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय से संस्कृत विषय में एम. ए. परीक्षा पास की। उनकी कविताओं में छायावादी एवं रहस्यवादी प्रवृत्तियों को स्थान प्राप्त हुआ है। तन्द्रा के भार से बोझिल पलकें भी उनकी कविता की करुण झंकार से उद्भूत अश्रुप्लावन के कारण सहसा आर्द्र हो उठती हैं।

महादेवी जी के काव्य में मानव-हृदय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है। उनके अनुसार विश्व में वेदना एवं नैराश्य का ही प्राधान्य है। उनके काव्य में अनुभूति की प्रमुखता है। कल्पना के योग से यही अनुभूति चतुर्मुखी होकर अपने संदेश का प्रसारण करती है। जीवन की विषमताओं का गहन अध्ययन करने के कारण उनके काव्य में एक विशेष प्रौढ़ता एवं विशदता का संचार हो गया है। आत्मसमर्पण एवं आत्मानुभूति प्रधान होने के कारण उनका काव्य निश्चय ही अलौकिक आनन्द का रसास्वादन कराने वाला हो गया है।

महादेवी जी के काव्य में परमेश्वर से साक्षात्कार प्राप्त करने की भावना को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। विश्व में सम्पादित होने वाले प्रत्येक कार्य-कलाप में वे उसी अनन्त की छाया का दर्शन करती हैं। कवियित्री के साथ-साथ चित्रकार होने के कारण उनके काव्य में कला को विशेष प्रश्रय मिला है। प्राकृतिक-सौंदर्य के दर्शन के हेतु उनके

नयन सदैव जागरूक रहे हैं और यही कारण है कि उनके काव्य में उच्चकोटि की प्राकृतिक सुषमा का चित्रण हुआ है।

महादेवी जी की भाषा में माधुर्य-गुण की प्रधानता है। पद्य के साथ-साथ उन्होंने गद्य में भी रचना की है। उनके 'अतीत के चलचित्र' एवं 'स्मृति की रेखाएँ' नामक ग्रंथ संस्मरणात्मक ग्रंथों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। आलोचनात्मक निबन्धों में विद्वत्ता की एक विशेष मात्रा सन्निहित रहती है। उनकी काव्य-रचनाओं का सौंदर्य अप्रतिम है। शीघ्र ही वह समय आयेगा जब उनके 'यामा', 'सांध्यगीत' आदि कविता-संग्रहों को विश्व-व्याप्त ख्याति प्राप्त होगी।

हरिवंशराय 'बच्चन'

हालावाद के अमरकवि श्रीहरिवंशराय 'बच्चन' का जन्म सं० १९६४ में हुआ। खड़ी बोली हिंदी के वर्तमान कवियों में उनका स्थान अत्यंत उच्च है। उनकी कविता में माधुर्य एवं गेयात्मकता को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। हिंदी के गीतिकाव्य को अपनी मुक्तक कविताओं द्वारा इन्होंने विशेष श्री एवं समृद्धि प्रदान की है। वेदना, उन्माद एवं मादकता को जिस कौशल से उन्होंने अपने काव्य में चित्रित किया है, वह वास्तव में अत्यंत स्तुत्य है।

कविवर बच्चन के काव्य में प्रेम और विरह की विभिन्न परिस्थितियों को अत्यंत सफलता-पूर्वक अङ्कित किया गया है। सौंदर्य और यौवन के सम्यक् उपभोग में कवि का अमर विश्वास है। उमर-खैयाम की रुबाइयात का हिन्दी-पद्यानुवाद कर उन्होंने हिंदी-कविता-प्रेमियों को एक नवीन दिशा की ओर प्रेरित किया। 'मधु-बाला' एवं

'मधुकलश' की रचनाकर उन्होंने उक्त परम्परा को और भी अधिक विकसित किया। साकी, चषक और हाला के सरोवर में हिंदी-संसार एक बार ही डूब गया।

कविवर बच्चन के काव्य में सौंदर्य-भावना के अतिरिक्ति आध्यात्मिकता एवं अनुभूति को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। 'निशा-निमन्त्रण', 'एकांत-संगीत', 'सतरंगिनी' एवं 'आकुल-अन्तर' नामक काव्य-ग्रंथों की कविताएँ इसकी उत्कृष्ट प्रमाण हैं। 'बंगाल का काल' नामक काव्य-ग्रंथ में कवि ने पीड़ित मानवता का नग्न चित्रण किया है। 'सूत की माला' में बच्चन पर गांधीवादी प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है। इसके गीतों में कवि की वेदना विशेषतः उभर आई है।

कविवर बच्चन की भाषा सरल, ललित एवं भावानुकूल है। कल्पना की कोमलता, भाषा के माधुर्य एवं छन्दों की लय से उनके काव्य में एक विशिष्ट प्रभावोत्पादन की क्षमता आ गई है। आधुनिक हिंदी-कवियों में उनके समान लोक-प्रियता अन्य किसी को भी प्राप्त नहीं है। शीघ्र ही वह समय आयेगा जब वे विश्व-विख्यात ख्याति का अर्जन करने में सफल होंगे।

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

कल्पना-प्रधान कवि बाबू जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' का जन्म सं० १९६१ में ग्वालियर के मुरार जिले में हुआ। साहित्य एवं राजनीति में समान रूप से भाग लेने के कारण उनके काव्य में क्रांति-परक भावनाओं का विशेष समावेश हो गया है। अनुभूति की कमी के कारण उनके काव्य में कुछ क्लिष्टिता भी आ गई है। प्राकृतिक-सुषमा के सम्यक् चित्रण की ओर उन्होंने पर्याप्त ध्यान दिया है।

उनके भाव उदात्त, निष्कलुष एवं लोक-कल्याण की भावना से युक्त हैं। आत्म-परितोष की भावना से रचित होने के कारण उनके काव्य का हिंदी साहित्य में अत्यंत उच्च स्थान है।

मिलिंद जी की आधुनिकतम कविताओं में छायावादी एवं प्रगतिवादी प्रवृत्तियों को भी प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। उनकी कविताओं में हृदय को एक नवीन चेतना प्रदान करने की अद्भुत शक्ति सन्निहित है। राष्ट्रीयभावों का प्राधान्य होने के कारण उनकी रचनाओं का जनता में पर्याप्त आदर है। सामाजिक विषमता एवं पीड़ित मानवता के सम्बंध में उन्होंने अत्यंत प्रभावशाली उद्गार व्यक्त किये हैं। पूँजीवाद के वे तीव्र विरोधी हैं और सम-वितरण की भावना का उन्होंने भरसक प्रचार करने का प्रयत्न किया है।

कविता के साथ-साथ मिलिंद जी में नाटक-रचना की प्रतिभा भी वर्तमान है। उनका 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नामक नाटक हिंदी-साहित्य में अपना पृथक् स्थान रखता है। शौर्य-पूर्ण भावनाओं एवं उच्च कल्पना-शक्ति के सामंजस्य के कारण उनका यह नाटक वास्तव में पठनीय है। उनकी कविताओं का एक उत्कृष्ट संग्रह अभी कुछ समय पूर्व ही प्रकाशित हुआ है।

हरिकृष्ण प्रेमी

कविवर हरिकृष्ण 'प्रेमी' का जन्म सं० १९६५ में ग्वालियर राज्यान्तर्गत गुना नामक स्थान में हुआ। उनकी रचनाओं में हृदय की वेदना को विशेष रूप से अभिव्यक्त किया गया है। छायावादी कवि होने के कारण उनके काव्य में प्रकृति का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। 'जादूगरनी'

नामक काव्य में छायावाद की प्रधान प्रवृत्तियों को विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। 'अनंत के पथ पर' नामक काव्य में रहस्यवादी-विचार-प्रणाली का सम्पादन किया गया है। सीमा में असीम एवं व्यक्त में अव्यक्त का दर्शन करने में वे पूर्णतः सफल रहे हैं।

प्रेमी जी के काव्य में सुख-दुख, आशा-निराशा आदि विरोधी भावनाओं का सुन्दर चित्रण हुआ है। 'अग्निगान' में सामाजिक वैषम्य का तीव्र विरोध किया गया है। अनंत से साक्षात्कार की भावना को उनकी अधिकांश कविताओं में स्थान प्राप्त हुआ है। गम्भीर अनुभूति एवं कोमल कल्पना का सामंजस्य होने के कारण उनके काव्य में जिस अलौकिक सौंदर्य का संचार हो गया है वह वास्तव में असीम आनंद प्रदान करने वाला है।

कविता के साथ-साथ प्रेमी जी ने नाटकों की रचना भी की है। हिंदी के ऐतिहासिक नाटककारों में उनका नाम अत्यंत आदरपूर्वक लिया जाता है। इन नाटकों में सामंजस्य की भावना को विशेष बल प्राप्त हुआ है। भारतीय गौरव की रक्षा करने का प्रेमी जी को सर्वत्र ध्यान रहा है। उनके रक्षाबंधन, मित्र, शिव-साधना, प्रतिशोध, विषपान, आदि नाटक इस कथन के उत्कृष्ट प्रमाण हैं।

सरल भाषा, गम्भीर भाव-प्रणाली एवं प्रौढ़ शैली के फलस्वरूप उनके काव्य में एक विशेष प्रभावोत्पादक क्षमता का संचार हो गया है। उनकी कविताओं में लोकप्रियता के समस्त गुण पूर्ण रूप से प्राप्त होते हैं।

———

श्यामनारायण पाण्डेय

वीर-रस के प्रधान कवि पं० श्यामनारायण पाण्डेय का जन्म आजमगढ़ जिले के डुमरांव नामक ग्राम में हुआ। उनके काव्य में ओजपूर्ण भावनाओं एवं वेगपूर्ण भाषा को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। राजस्थान के वीरों को उन्होंने अपने काव्य में प्रधान रूप से अपनाया है। तत्कालीन भावनाओं की रक्षा करते हुए उन्होंने इन वीरों के शौर्य का अत्यंत प्रभावशाली भाषा में वर्णन किया गया है। यही कारण है कि खड़ी बोली हिंदी के वीर रस के वर्तमान कवियों में उनका स्थान अन्यतम है।

पांडेय जी की कविताओं में वीर रस के साथ-साथ करुण रस का भी अच्छा सम्पादन हुआ है। उनकी शैली में वर्णनात्मकता की मात्रा अधिक है। पुण्य-भूमि भारतवर्ष के अतीत-कालीन गौरव के चित्रण में उन्हें विशेष सफलता प्राप्त हुई है। भारतीय संस्कृति की सर्वोपरि महानता को उन्हें जिस प्रवाहपूर्ण शैली में अभिव्यक्त किया है, वह निश्चय ही अनश्वर प्रसिद्धि की अधिकारी है।

पांडेय जी का शब्द-चयन पूर्णतः रसानुकूल है। यही कारण है कि उनका काव्य हृदय को आनन्द से आपूरित कर देने में समर्थ है। उनकी रचनाओं में 'त्रेता के दो वीर', 'आरती', 'जौहर' एवं 'हल्दी-घाटी' सर्वप्रधान हैं। 'हल्दी-घाटी' पर उन्हें २०००) का देव-पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

बिहार के प्रतिभा सम्पन्न कवि बाबू रामधारीसिंह 'दिनकर' का जन्म सं० १९६५ में हुआ था। काव्य-रचना में प्रारम्भ से ही रुचि होने

के कारण उन्होंने दशम कक्षा में उत्तीर्ण होते ही 'प्रण भंग' नामक एक काव्य की रचना की। पटना-विश्वविद्यालय से बी० ए० करने के पश्चात् उन्होंने 'रेणुका' नामक काव्य का प्रकाशित कराया। हिंदी-जगत् ने इस काव्य को ग्रहण कर कवि का पर्याप्त सन्मान किया।

अध्ययन-शील एवं क्रांतिदर्शी होने के नाते कविवर दिनकर हिंदी-काव्य-प्रांगण में एक प्रमुखस्थान रखते हैं। उनकी कविता में माधुर्य की अपेक्षा ओज की मात्रा अधिक है। उन्होंने दलितों के प्रति केवल सहानुभूति का ही प्रदर्शन नहीं किया, उन्हें जाग्रत करने के हेतु एक संदेश का प्रसारण भी किया। पीड़ित मानवता के प्रति उनके हृदय में एक अमर वेदना का वास है जो उनकी कविता में शोषकों के प्रति अभिशाप बन कर फूट पड़ी है।

दिनकर की रचनाओं में उनका 'कुरुक्षेत्र' नामक काव्य अपना एक पृथक स्थान रखता है। इसमें उन्होंने कवि की भावुकता के साथ-साथ दार्शनिक की जटिलता को भी ग्रहण किया है। अतीत काल की पृष्ठभूमि पर अंकित इस काव्य में वर्तमानकाल की समस्याओं का अत्यंत सुन्दर निदान उपस्थित किया गया है। इस काव्य पर भारत की सांस्कृतिक विचारधारा की छाप स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है।

दिनकर के काव्य में प्रगतिवाद को विशेष पोषण प्राप्त हुआ है। उन्होंने प्रगतिवाद की मान्यताओं को एक उच्चस्तर पर स्थापित करने की सफल चेष्टा की है। उनकी रचनाओं में एक राष्ट्र-व्यापी जागरण का स्वर सन्निहित है। उनकी भाषा भी भावानुकूल होने के कारण अत्यंत प्रौढ़ एवं प्रभावोत्पादक बन पड़ी है। कल्पना के स्थान पर वास्तविकता को प्रश्रय देने के कारण उनके काव्य में सारल्य का भी अद्भुत सम्मिश्रण होगया है। उनकी अन्य रचनाओं में सामधेनी, हुंकार, द्वंद्वगीत, रसवंती, धूप-छांह एवं मिट्टी की ओर का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

सोहनलाल द्विवेदी

गांधीवादी कवि पं० सोहनलाल द्विवेदी का जन्म फतहपुर जिले के बिंदकी नामक ग्राम में हुआ। उनकी कविताओं में राष्ट्रीय भावनाओं को विशेष प्रश्रय प्राप्त हुआ है। भारत की पुरातन संस्कृति का उन्होंने सर्वत्र मुक्त-कण्ठ से गान किया है। उयके गीतों में वेदनात्मक भावनाओं को जिस कलात्मक रीति से अभिव्यक्त किया गया है, वह वास्तव में अत्यंत प्रशंसनीय है। कविता के बाह्य उपकरणों के साथ-साथ उन्होंने उसके आंतरिक सौंदर्य का भी पूर्ण ध्यान रखा है।

द्विवेदी जी की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना की प्रवृत्ति पूर्ण रूप से विद्यमान है। देश के स्वातंत्र्य-यज्ञ में प्राणाहुति करने वाले महान् सेनानियों को उन्होंने अपने काव्य में शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित किया है। 'भैरवी' एवं 'पूजा-गीत' में उनकी राष्ट्रीय कविताओं का उत्कृष्ट संग्रह हुआ है। 'चित्रा' के गीतों में भावात्मकता की मात्रा अधिक है। 'वासवदत्ता' नामक ऐतिहासिक काव्य इनकी रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ है।

राष्ट्रीय कविताओं के साथ-साथ द्विवेदी जी ने बाल-कविताओं की भी पर्याप्त संख्या में रचना की है। इस दिशा में उनकी प्रगति सर्वमान्य है। हिंदी में बाल-साहित्य की रचना करने वालों में उनका स्थान सर्वोच्च है।

शब्दार्थ

[बाईं ओर दिये गये अंक पृष्ठ-संख्या सूचित करते हैं]

१—पुहुपन = पुष्पों में, सालै = बेधती है, लहंड़े = झुण्ड ।

२—अधाय = तृप्त हो, मनका = माला ।

३—हाट = बाज़ार, जन्त्र = बाजा, सितार, भानु = सूर्य ।

४—कंत = पति, मीन = मछली, अबिनासी = ईश्वर ।

५—खीना = क्षीण हुआ, सबूरी = सन्तोष, मगरूरी = घमण्ड ।

६—कुस्टि = कोढ़ी, हड़ावरि = अस्थियों की माला, गटा = गोल दाना, निस्तर = छुटकारा ।

७—राता = सुन्दर, कबिलास = स्वर्ग, लारौं = करूं, डभकहिं = डबडबाते हैं, लाखा = पहिचाना ।

८—गहबरा = घबराया, घाला = डाला, पदिक = तावीज, मयारू = माया करने वाला, ईसर = ऐश्वर्य ।

९—ताका = उसका, ताल कै लेखा = ताड़ के समान ऊँचा, जुरे = जुट जाय ।

१०—पंगु = लंगड़ा, मूक = गूंगा, द्यौस = दिन, सूल = पीड़ा, अरगजा = सुगन्धित पदार्थ, निषंग = तरकस, कामरि = कम्बल ।

११—औगुन = अवगुण, सुरसरि = गंगा, अनत = और दूसरी जगह, अम्बुज = कमल, करील = एक कांटेदार वृक्ष, छेरी = बकरी, अविगत = जो जाना न जाय अर्थात् निगुर्ण ब्रह्म ।

१२—तोष = तृप्ति, निरालम्ब = जिसका कोई सहारा न हो, भीर = सकट, जारौं = जलादूं, अजहूं = अब भी ।

१३—लखि = देख कर, चबाई = शैतान, जल-सुत = कमल, सीके = छिक्का ।

१४—तरुनापन = जवानी, औसर = अवसर, पुहुप = पुष्प, उकठि परे = सूख गये, दवानल = बन की अग्नि ।

१५—जोवत = देखती हैं, बारक = एक बार, पतूखी = पत्ते का दोना, सिकत = रेत, आराधै = आराधना करे, घनेरी = अधिक ।

१६—ढरै = दयालु हो गये, रूपव = सुन्दर, छरै = दुखी करता है, जठर = पेट, विहंगम = पक्षी ।

१८—असोक = अशोक वृक्ष, चितव = देखकर, सहिदानी = पहिचाना ।

१९—खरारि = रामचन्द्र, कृसानू = अग्नि, कुबलय = कमल, कुंत = भाले, उरग = सांप ।

२०—उये = उगने पर, जातुधान = राक्षस, साखामृग = बन्दर, ब्याल = सांप, कीसा = बन्दर ।

२१—उपारे = उखाड़े, मर्दि = रगड़कर, मर्कट = बन्दर, बिरथ–बिना रथ का, प्रभंजन जाया = हनुमान, ब्रह्मसर = ब्रह्मास्त्र, कटक = फौज ।

२२—भवबन्धन = सांसारिक बन्धन, अहिगन = सांप, बिरंचि = ब्रह्मा, कोदण्ड = धनुष ।

२३—सुरारी = रावण, दसकंठ = रावण, त्राता = बचाने वाला ।

२४—खल = दुष्ट, आन = और, पावक = अग्नि, सारद = सरस्वती, पावक = अग्नि ।

२५—निमिष = क्षण, वैदेही = जानकी, कंत = पति ।

२६—अंगहीन = निस्सहाय, मंगलकारी = कल्याण करने वाले, भंजन = दूर करने वाले, सहसफन = शेषनाग, संध = प्रतिज्ञा, पानि = हाथ, तून = तरकस ।

२७—राम–स्याम घन=राम रूपी काले बादल, बल्लभ=पति, अघटित=असम्भव, बिरुदावलि=गुणावलि, गिरजा=पार्वती, हर=महादेव, पात=बेल–पत्र, आखत=अक्षत, वामदेव=शिव, आधिभौतिक=शारीरिक, सिहोरे=एक कांटेदार वृक्ष ।

२८—केहिर=सिंह, करमाली=किरणों ही जिनकी माला हैं । रुजाली=रोगों का समूह, कोक=चकवा, कोकनद=कमल, बदन=मुख

२९—त्रिविधज्वाला=तीन ताप, घरणि=पत्नी, मघवा=इन्द्र, चहर=चिड़िया, बाजी=खेल ।

३०—प्रतिपाल=रक्षक, रावरी=आपकी, पिव=प्रीतम, सरणि=शरण, गरे=गले, जोई=देख लिया है, छोई=छाछ ।

३१—नरहरि=नृसिंह, नाहिन=नहीं है, मँझार=बीच में, कबीला=कुटुम्ब, ऊँडी=गहरी, बेड़ा=नाव, चोहटे=बाज़ार में, भावे=चाहे ।

३२—सांवरी=श्याम वर्ण, बछुल=प्रिय, चितवत=देखते, ऊभी=आशा में, अकोर=भेंट, कासूं=कैसे, डगर=मार्ग ।

३३—मंझारन=बीच में, पुरन्दर=इन्द्र, कालिन्दी=यमुना, कामरिया=कम्बल, ठैयाँ=स्थान, बनता=स्त्री, कानि=लाज ।

३४—दामिनि=बिजली, दुति=चमक, सरैं=काम में आवैं, रसखानि=कवि का नाम, आनन्द राशि, मनोज=कामदेव ।

३५—कलत्र=स्त्री, लसै=दिखाई पड़े ।

३६—नीके=अच्छे, मुनि-पत्नी=अहिल्या, पानी=मर्यादा ।

३७—दादुर=पपीहा, वैराट=राजा विराट, नखत=नक्षत्र, पंक=कीचड़, उदधि=समुद्र ।

३६--गाथ = गाथा, रूपरयी = सुन्दर, हय = घोड़ा, शशिवर्ण = सफेद, सरसीरुह = सफेद कमल, रोचन = रोरी, पट्ट = पट्टी, शत्रुहन्ता = शत्रुघ्न ।

४०--सूर = सूर्य, पट साजनि = फरेर, चपि = मर्दन करने से, हुतासन = अग्नि, पंच प्रभूत = पंचतत्व, नाद = शोर, मुद्रित कै = छाप लगा कर, अवगाहि कै = पार कर, तुरंगम = घोड़ा ।

४१--संगर संगम = युद्ध में भिड़ना, भोरे = धोखे में ।

४२--रिपुहा = शत्रुघ्न, पत्री = वाण, आजि = युद्ध, गीता = कथा ।

४३--गाहियो = मथ डाला, करीश्वर = बड़ा हाथी, अरिहा = शत्रु, सोदर = सहोदर, तूल = समान ।

४४--ससिसेखर = शिवजी, अकस = द्वेष, सेखर = सिर, तंत्री = वीणा ।

४५--विरियां = समय, करिया = केवट, सोधि = खोज ले, दमामा = ढोल ।

४६--दुराज = दो राजाओं का राज्य, दंद = दुःख, गुहारि = पुकार, बिरदु = यश, गीधे = ललचाये हुए ।

४७--तूठे तूठे = प्रसन्न हुए, सुरति = याद, बिहारी-लाल = कृष्ण, बादि = वृथा, सोर = शोर ।

४८--बाड़व = बड़वानल, सुअम्भ = समुद्र, वारिवाह = बादल, रतिनाह = कामदेव, वितुण्ड = हाथी, दावा = अधिपत्य नाग जूह = हाथियों का झुण्ड ।

४९--सरजा = शिवजी, गैवरन = हाथी, खलक = संसार, उलसत हैं = उछलते हैं, थारा = थाल, पारावार = समुद्र ।

५०--बिधि = ब्रह्मा, रजनीस = चन्द्रमा, अस्मृति = स्मृति ।

५१--दिवाल = मर्यादा, दुनि = दुनियाँ, गर = गला, रैयत = प्रजा ।

५२—पटपीत = पीला वस्त्र, किरीट = मुकुट, जुन्हाई = चांदनी, भीर = मंडली, दुरे = छिप गये।

५३—नर नाहन = राजाओं, चितावनिन = चेतावनियां, जंबूरस = जामुन का रस।

५४—पुहुमि-पीठ = पृथ्वी रूपी आसन, उमहत = प्रसन्न होता हूँ।

५५—तरणि = सूर्य, तनूजा = पुत्री, मुकुर = शीशा, गोभा = अँकुर, झाईं = आभा।

५६—अम्बर = आकाश, प्रतिबिंब = आभा, कारण्डव = कबूतर।

५७—चक्रवाक = चकवा, बक = बगुला, पंकज = धूल, बिहंगम = पक्षी।

५८—गैन = पागल, असि = तलवार, पतियावै = विश्वास करे, इनारुन = इन्द्रायण नामक कडुवा फल।

५९—अवसान = अन्त, लोहित = लाल-लाल, कमलिनी-कुल-वल्लभ = सूर्य, विवर्धित = गूंजा, विहगावलि = पक्षियों का झुण्ड, अरुणिमा = लाली, पुलिन = किनारा।

६०—तरणि = सूर्य, तिरोहित = लाल, वीथिका = गली, गोरज = धूल, समाकुल = व्याकुल।

६१—वय-व्रती = बूढ़ी, कढ़ी = निकली, नलिनीश = चन्द्रमा।

६३—भीति = डर, पारथ = अर्जुन, हरि दै हौं = दूर कर दूँगा।

६४—द्रोन = द्रोणाचार्य, गुमान = गर्व, कछार = किनारा, विरमानी = रुक गई, अरुझानी = उलझ गई, करीरन = करील, झार = झाड़ी।

६५—झौरि = झुण्ड, पौरि = आंगन, स्रमे = थके हुए; सकबके = भौचक्के, भकुवाने = पागल, हिराने = चकित, भासत = प्रतीत होता है।

६६—विरहानल = विरह की अग्नि, सरि हैं = चले, सनेसौ = संदेश, अंदेसौ = संदेह।

६७--गढ़ी = किला, नतन = नम्रता, तूमड़ो = भिक्षा का पात्र ।

६८--वितान = चांदनी, अरण्य = जंगल, जनन = पैदा होना, हनन = वध ।

६९—रोदन-जल = आंसू, सार = तत्व, अनुताप = पश्चात्ताप ।

७०--त्रैलोक्य = संसार, गात्र = शरीर, जना = उत्पन्न किया ।

७१--पताका = झण्डा, बाना = वस्त्र ।

७२--पावन = पवित्र, धाम = निवास-स्थान, तारक = तारने वाला, याम = समय ।

७४--शाखा-मृग = बंदर, तरल = चंचल, कूजित = पक्षी की ध्वनि, पाषाणों = पत्थरों ।

७५--श्रमित = थके हुए, तुषार = जल, कुंभीपाक = नरक, केहरि = सिंह, सुरपुर = स्वर्ग, रौरव = नरक, कूल = किनारा ।

७६—किंजल्क = पराग, अरुण शिशु = बालसूर्य, कोकनद = लाल कमल ।

७७—सदृश = समान, विरज = रजहीन, सुदिनमणि = सूर्य, निकेत = घर, अहमिति = अपना ही अभिमान ।

७८—चातक = पपीहा, सुप्त = सोई, दृग-जल = आंसू, अनिल = अग्नि, निलय = आकाश, पतंग = परवाना, शलभ = पतंग, पुंज = समूह, अनल = अग्नि, क्रन्दन = चीत्कार ।

७९—महादम्भ का दानव = तलवार, आसव = मदिरा, तुरङ्ग = घोड़ा, निषंग = तरकस ।

८०—आलोक = प्रकाश, मग = मार्ग, सिकता = बालू ।

८१—रश्मि = किरण, सप्त-सिंधु = पंजाब, निधान = घर, उपाख्यान = इतिहास, समर = युद्ध ।

८२—मराल = हंस, धाम = घर, उषाकाल = प्रात:काल, पोत = जहाज, वासर = दिन, शुचि = पवित्र, नव्य = नवीन ।

८३ – मेधावी = ज्ञानवान्, मंजुल = सुंदर, मयंक = चंद्रमा, चाव = स्नेह, जलधर = मेघ, भृंग = भौंरा ।

८४—मद-मर्दन = घमंड दूर करना, छिंगुनी = छोटी उंगली, करि = हाथी, प्रसेदु = पसीना, श्रांत = थका हुआ, बानक = वेश, चाप = धनुष ।

८५—अविलम्ब = जल्दी, उपशमन में = नष्ट करने में, दंत दुति = दांतों की चमक, कर्षत = खींचता है, कलपि = तड़प कर ।

८६– लूम = पूँछ, किलकारि = किलकारी, शोर, दलौ = दूर करो, प्रलयंकारि = प्रलय करने वाले, दमन = नष्ट करना, दारुन = कठिन ।

८७—शिलाखंड = चट्टानें, रास = नाच, उपत्यका = घाटी, पंकिल = कीचड़, त्रास = डर, अनित्य = नाशवान, बंध = बंधन, निधि = खजाना ।

८८—उपहास करना = हँसी उड़ाना, अतीत = वीते हुए, आसव = मदिरा, नर्तन = नाश, लोचन = नेत्र, हिय = हृदय, कुष्ट = कोढ़ ।

८९ –विलुप्त = छिप गया, व्रण = फोड़े, शर = तीर, गात = शरीर ।

९०—तुमुल = घोर, तुङ्ग = ऊंचा, अवलोकें = देखें, औघट = दुर्गम, कपाट = द्वार, कलुष = दोष, पाप ।

९१ –सदुद्देश = अच्छा उद्देश्य ।

९२—भागीरथी = गंगा, अरि = शत्रु, व्यालों = सांपों, ध्येय-सिद्धि = उद्देश्यपूर्ति, मन्थर = धीमी, विराट = बड़ा ।

९३ – भृकुटि—भौंहें, संताप = दुःख ।

९४—अरमान = बलवती इच्छा, उषा = प्रात:काल ।

९५–शुचि=पवित्र, वसन=वस्त्र, धवल=सफेद।

९६–सर=तालाब, तड़ित=बिजली, कानन=वन, रव=शोर, विकल=व्याकुल, गहन=घना।

९७–शर्वरी=रात, लोल-लोचन=लाल नेत्र, निरत=लगे हुए।

९८–स्वच्छंद=मनमाना, बिम्बित=बिम्ब से युक्त, पुलिन=किनारा, त्रस्त=डरा हुआ।

९९–संशय=संदेह, अखिल=सारे, प्रसार=फैलाव, बिहान=प्रातःकाल।

१००–शाँत=थके हुए, पल्लव=पत्ते, विजन=निर्जन, अभिनय=स्वांग, यवनिका=पर्दा, प्रमुदित=प्रसन्न।

१०१–दिनकर=सूर्य, सुरभित=सुगंधित, अविरत=लगातार।

१०२–आनन=मुख, वेदना=पीड़ा, विधुर=विकल।

१०३–भृकुटि तानी=क्रुद्ध हुए, फिरंगी=अंग्रेज, पुलकित=प्रसन्न।

१०४–विरुदावलि=यश वर्णन, भवानी=पार्वती।

१०५–वारिस=उत्तराधिकारी, विरानी=पराई, बिसात=बस।

१०६–विषम=भयंकर, आहत=घायल, पुरखों=पूर्वजों।

१०७–द्वंद्व = युद्ध, निरंतर = लगातार, तत्काल = फौरन।

१०८–सैन्य = सेना, मनुज = मनुष्य, सीख=शिक्षा।

१०९–कृतज्ञ=उपकार मानने वाला, स्मारक=यादगार।

११०–क्रोड़=गोद, अनल=अग्नि, व्योम=आकाश, तिमिर=अँधेरा, शलभ=पतंग, प्राँगण=आँगन।

१११–अधःपतन=नीचे गिरना, पाषाणों=पत्थरों, कातर=दीन।

११२–रजनी=रात, बाले=लड़की, निधियां=खजाना, विचलित=अधीर, प्रतिबिम्ब=परछाई।

११३–रश्मियों=किरणों, खद्योतों=जुगनुओं।

११४–अवसाद=दुःख।

११५–नीड़=घोंसला, अभिराम=सुन्दर, अस्थिर = अनिश्चित, रोदन= रोना, मादक=नशीला, आलोकित=प्रकाशित ।

११६–अपरिमित=असीमित, हरित=हरे, द्रुतकर=तेज ।

११७–अक्षय=अविनाशी, अणु=कण, स्मित=मुस्कराना, यूथी=जुही, कवरी = चोटी, दुकूल=वस्त्र ।

११८–अलसित=अलसाये हुए, रसाल=आम, पिक=कोयल, बयार=हवा ।

११९–झंकृत कर दिया,=बजा दिया. स्नेह-सुरा=प्रेकी शमराब, उद्‌गार=विचार, दहा=जला, उन्माद=मस्ती, पागलपन !

१२०–प्रासाद=महल, नि:शेष=पूर्ण ।

१२१–आली=सखी, अरुणाई=लालिमा, जावक=महावर, मरुथल= मरुस्थल, पंक्ति ।

१२२–अवलम्बन=आश्रय, पद-पद्मों=चरण कमलों, कोलाहल=शोर ।

१२३–प्रहर=चार घड़ी, रव=ध्वनि, शिथिल=ढीले, परिरम्भण=भेंट, आलिंगन, उद्‌गम=स्त्रोत ।

१२४–मुखर=बकवादी, द्वय=दो, नर्तन=नाच ।

१२५–मानव-उर=मनुष्य का हृदय, नीड़=घोंसला, निश्छल=छल रहित, इंगित=इशारा ।

१२६- सुविस्तृत=बड़ा, क्रम-आगत=क्रम से, अवरुद्ध=रुका हुआ, प्रबल= भारी, इति=अंत, अथ = अनंतर, साम्य=समता ।

१२७–विश्वासघात=धोखा, आमिष=रूप, मांस, अविचल=अटल ।

१२८–आघात=वार, भीषणतर=भयंकर, उल्लास=प्रसन्नता, प्रतिकूल= विरुद्ध ।

१२९–शोषण=चूसना, अविरल=निरन्तर, भ्रांत=भूला, कुरबानी=बलिदान ।

१३०–अलकें=केश, स्मृति=याद, रत्न-जटित=जिसमें हीरे जड़े हुए हों, वसुधा=पृथ्वी ।

१३१–आमन्त्रण=न्यौता, कूल=किनारा ।

१३२–विहग=पक्षी, गहन=गहरा, कोट=गढ़, अश्रु-निर्झरणी=आंसू रूपी झरना ।

१३३–स्वच्छन्द = बे रोक टोक, विहार = सैर, उषा = प्रातःकाल।

१३४–चेतक = प्रताप का घोड़ा, अरिदल = शत्रु की सेना, हय = घोड़े प्रलय = नाश, अंत।

१३५–अवयव = अङ्ग, पसार = फैला कर, अक्षत = चावल।

१३६–गर्वित = अभिमान भरे, चिता-भस्म-कण = चिता की राख।

१३७–हांक = आवाज़, उंडेल कर = डालकर, विकराल = भयंकर, दह्यमान = जल उठा' खगोल = भू-मण्डल, खण्डित = छिन्न-भिन्न, चिंघाड़ = पुकार, कलि = कलियुग।

१३८–केतु = पताका, ग्रीवा = गर्दन, वामन = बौना, नग-पति = हिमालय, पुंजीभूत = इकट्ठा किया हुआ, किरीट = मुकुट, भाल = मस्तक, निर्बन्ध = स्वतंत्र, व्योम = आकाश, वितान = तम्बू, यतिवर = सन्यासी, निदान = कारण।

१३९–नयनोन्मेष = आंख खोलना, अमिय = अमृत, विगलित = निकली हुई, कराल = भयानक, चतुर्दिक = चारों ओर, अशेष = बाकी, ज्वाल बसन्त = आग की होली।

१४० बलधाम = लशाली, भग्नावशेष = खण्डहर, गंडकी = नदी, अम्बुधि = समुद्र, प्रांगण = आंगन।

१४१–गांडीव = अर्जुन के धनुष का नाम, महोच्चार = जोर का उच्चारण, निनाद = शोर, शैल-राट = पर्वतराज (हिमालय), कुहा = अंधकार, प्रमाद = अज्ञान।

१४२–अभय = निर्भय, विश्वम्भर = ईश्वर, क्रन्दन = चीत्कार।

१४३–मृत्युंजय = मृत्यु को जीतने वाले, प्राची = पूर्व, अक्षय = नष्ट न होने वाली, महीप = राजा, प्रसार = फैलाव।

१४४–महापोत = जहाज, तीर = किनारा, विलास = ऐश्वर्य, निरीह = स्थिर, यदुपति = श्रीकृष्ण, अनायास = अचानक।

१४५–बीन = वीणा, अन्तर = हृदय।

———